

UNIVERSAL
LIBRARY

OU_178305

UNIVERSAL
LIBRARY

मिट्टी और फूल

नरेन्द्र शर्मा

OUP- 68-11-1-68 -2 000

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. **H 891.431** Accession No. **H 228**
853M

Author **शर्मा, नरेन्द्र .**

Title **मिटी और फूल .**

This book should be returned on or before the date last marked below.

प्रथ-संख्या—९६

प्रकाशक तथा विक्रेता

भारती-भण्डार

लीडर प्रेस, इलाहाबाद

द्वितीय संस्करण

२००२ वि०

मूल्य २)

मुद्रक

महादेव जोशी

लीडर प्रेस, इलाहाबाद

निवेदन

‘मिट्टी और फूल’ में पिछले दो वर्षों के भीतर लिखी गई मेरी अधिकांश स्फुट रचनाएँ संग्रहीत हैं। कुछ सप्ताह पूर्व प्रकाशित हुई पुस्तिका ‘कामिनी’, जिसे मैंने एक ‘कथागीत’ कहा है, वास्तव में ‘मिट्टी और फूल’ की ही एक अंशवत् कणिका है। अभिव्यक्ति के आधार पर भिन्न होने के कारण ही वह इस संग्रह का अंग नहीं बन सकी।

‘मिट्टी और फूल’ में मेरे अन्तर्संघर्ष का ही प्रधानता मिली है। इसके रचना काल में बुद्धि और भावुकता के बीच मेरे मन में जो द्वन्द्वयुद्ध छिड़ा रहा है, ‘पलाश-वन’ में उसका पूर्वाभास मेरे पाठकों को मिल चुका है। बाहर और भीतर के मेरे विश्व की बढ़ती हुई सीमाओं ने उस संघर्ष को अधिक उग्र और व्यापक बना दिया है। इस बीच में मेरा कारावास और आत्मीय जन से निर्वासन—इस वस्तुस्थिति को देश और विदेश की भीषण हलचल ने मेरे लिए विशेष रूप से प्रभावपूर्ण बना दिया। और इसी वस्तुस्थिति ने उत्पन्न मेरी मनोदशा, मन की पूर्व अवस्थाओं के आधार पर, ‘मिट्टी और फूल’ की रचनाओं में सुखरित हुई है।

मैं मन की दुर्बलताओं का कवि हूँ। बालू की भीन खड़ी करके हवाई किले बनाने वाले अर्धशिक्षित मध्यवर्ग का एक सामान्य युवक है भी किन्तु दुर्बल प्राणी! मुझे इसका आभास मिलता है जब मैं अपनी और अपने समसामयिक अन्य नये कवियों की कृतियों की ओर देखता हूँ। इन नए कवियों ने अपनी सरल भाषा, स्पष्ट शैली और यथार्थ-ग्राहकता के द्वारा हिन्दी कविता की परम्परा को आगे बढ़ाया है, किन्तु भय होता है कहीं इस देन का महत्व हमारी विकृत अहम्मन्यता, छिछलेपन और अज्ञान जनित बवंडरवाद में तिनके की तरह शून्य में न उड़ जाय।

हममें से अधिकांश कवि प्रगतिवादी होने का दावा करते हैं और मुझ जैसे कुछ, आलोचकों के ऐसे कृपाभाजन भी हैं, जिन्हें प्रगतिवादी कवि की पदवी अनायास ही मिल गई है। न्याय के पक्षपातियों ने वास्तविक प्रगतिशील कवियों की तुलना में मुझे ‘फैशनेबिल प्रगतिवादी’ सिद्ध न कर

दिया होता तो संभव है मैं सचमुच प्रगतिशील कवि होने के भुलावे में पड़ जाता !

मैं कह चुका हूँ कि मैं मन की दुर्बलताओं का कवि हूँ। आशा है मेरे पाठक और विद्वान आलोचक मेरे काव्य को इसी रूप में ग्रहण करेंगे।

प्रगतिशील कौन है, इस प्रश्न का संतोषजनक उत्तर तो कोई अधिकारी प्रगतिवादी ही दे सकता है। अनेक व्यक्ति अपनी अपनी सूझ के अनुसार इस प्रश्न का उत्तर देते भी रहे हैं। मैं इस प्रश्न का उत्तर अवश्य देता, यदि मेरी कृतियों में सामर्थ्य होती कि वह प्रगतिशीलता की जीती जागती मिसालें बन सकतीं। फिर भी, संक्षेप में, इन सम्बन्ध में दो चार पंक्तियाँ यहाँ लिख जाऊँ तो पाठक मुझे क्षमा करेंगे - ऐसी आशा है।

वह कवि प्रगतिशीलता के उतना ही निकट समझा जायगा जो वस्तु-स्थिति और उसकी ह्याया में अकुलानेवाले अपने व्यक्तित्व को, व्यक्तित्व में निहित सक्रिय सामर्थ्य और सीमाओं को, तथा वस्तुस्थिति और व्यक्तित्व के घात प्रतिघातपूर्ण पारस्परिक सम्बन्ध और तज्जनित गतिशीलता के नियम को जितना ही अधिक समझता है और व्यावहारिक जीवन में ग्रहण करता है। यह समझदारी और तथ्य-ग्राहकता प्रगतिशीलता की पहली सीढ़ी है। अपनी सक्रिय शक्ति से प्रतिकूल वस्तुस्थिति को बदलने, अर्थात् उसे सामाजिक प्रगति के अधिक अनुकूल बनाने की लगन, और जर्जर संकारों से अपनी मुक्ति को नव निर्माण में सार्थक बनाने से ही कवि प्रगतिशीलता की ओर अग्रसर हो सकता है।

हममें से अधिकांश प्रगतिशील नहीं हैं; किन्तु यदि हमारा ध्यान इस ओर आकर्षित हुआ है या प्रगतिवाद की ओर हमारी सच्ची सहानुभूति और सद्भावनायें प्रवाहित हुई हैं, तो भी प्रगतिवाद की चर्चा सार्थक है।

उपर्युक्त पंक्तियों की भूमिका में मैं प्रस्तुत संग्रह को पाठकों के सामने रख रहा हूँ।

काशी ।
१ दिसम्बर, '४२ }

नरेन्द्र

आदरणीय
बाबू मैथिलीशरण गुप्त को
सादर समर्पित

क्रम

	कविता			पृष्ठ
१	मिट्टी और फूल	१
२	इच्छा की कली	३
३	गीत	४
४	स्वप्न-भंग	५
५	विदा-गीत	६
६	साँझ के बाद रात	७
७	मध्य निशा का गीत	९
८	निर्वेद	१०
९	मधुकर गीत	११
१०	साँझ की बात	१२
११	बुद्धक	१३
१२	खुला दिन	१४
१३	कौन है ?	१५
१४	चाँदनी	१७
१५	इन्दु से	१८
१६	उजाली रातें	१९
१७	स्वप्न की बात	२०
१८	पल भर को	२१
१९	तुम से	२२
२०	आशीष	२३
२१	गाँव की धरती	२४
२२	प्रेयसी	२५

	काविता			पृष्ठ
२३	किस विधि ?	२६
२४	स्नेह-दीप	२७
२५	देवली कैम्प जेल में	२८
२६	बैरेक से	३०
२७	एक रात	३१
२८	छायाछल की रात	३२
२९	पंचमी आज	३३
३०	रात	३५
३१	मेरे गान	३६
३२	निर्वासित	३७
३३	पंचमी का चाँद	३८
३४	यहाँ की बरसात	३९
३५	हवा में नीम	४२
३६	वासन्ती	४३
३७	सुवह	४४
३८	पावस की साँझ	४५
३९	भक्तिभीत	४६
४०	एकाकी	४७
४१	अकेलेपन	४९
४२	क्या गाऊँ	५०
४३	युवक क्लार्क	५१
४४	गतिरुद्ध	५२
४५	क्षुब्ध	५३
४६	मन से	५४
४७	अपने से	५५

	कविता				पृष्ठ
४८	बन-फूल	५६
४९	पहाड़ की याद	५८
५०	मेरे माथी	५९
५१	आज	६०
५२	युग और मैं	६२
५३	हिरना-हिरनी	६४
५४	छायाछल	६७
५५	चुनौती	६८
५६	नव आभाम	६९
५७	आज रात	७०
५८	निदान	७१
५९	द्वादशी का इन्दु	७२
६०	मनुज-पुष्प	७३
६१	संकल्प	७४
६२	संकट काल	७५
६३	साँझ का संदेश	७६
६४	मनु के सपूत	७७
६५	सावन की साँझ	७८
६६	वर्षा-भ्री	७९
६७	गत और प्रभात	८०
६८	नवमी की चाँदनी	८२
६९	एक नारी के प्रति	८३
७०	मुक्त धारा	८४

मिटी और फूल

मिट्टी और फूल

(१)

वह कहती, 'हैं तृण तम-प्राणी जितने, मेरे वेटा वेटी !'
ऊपर गोला आकाश और नीचे सोना-माटी लेटी !
मैं गव कुछ सहती रहती हूँ, हो धूप-ताप वर्षा-पाला,
पर मेरे भीतर छिपी हुई बिन बुझी एक भोपण ज्वाला !
मैं मिट्टी हूँ, मैं गव कुछ सहती रहती हूँ चुन्चाप पड़ी,
दिम-आतप में गल अंगे सूख पर नहीं आज तक गली सड़ी !
मैं मिट्टी हूँ, मेरे भीतर मोना-रूखा, नौरतन भरे !
मैं सूखी हूँ, पर मुझसे ही फल-फूल और बन-बाग हरे !
मैं पाँचों के नीचे, मैं ही हूँ पर पर्वत पर की चोटी !
मेरी छाती पर शत पर्वत, मैं मिट्टी हूँ सब से छोटी !
मैं मिट्टी हूँ—अंधी मिट्टी, पर मुझ-फूल मेरी आँखें !
मैं मिट्टी हूँ—जड़ मिट्टी हूँ, पर पत्रों में मेरी पाँखें !
मैं मिट्टी हूँ—मैं वर्षा-रोन, पर निकले मुझसे वर्षा सकल !
मेरे रस में प्रसून रंजित, रंजित नव अंकुर, पल्लव-दल !
मैं गंधहीन, मुझसे करते फल फूल मूल पर गंध ग्रहण;
जल वायु व्योम जो गंध रहित करते वे किसकी गंध वहन ?
मैं शव की शय्या, मुझसे ही उगते हैं नव जीवन-अंकुर,
नभ में कैसे खेती करता सब जीवों में जो जीव चतुर ?
आती है मेरे पास खगी दाने दाने का चोंच खोल,
तिन दवा चटुज उड़ जाती है मेरे पेटों पर वह अवाल !
मुझसे बनते हैं महल और ये बड़ा मुझों पर मीनारे,
मैं करवट लेती—दह जाते हैं दुर्ग, चाग की दीवारें !

मिट्टी और फूल

हाँ, बुद्धिजीव आदर्शभूषण मानव भी मेरी ही कृति हैं,
पैगम्बर और गिफन्दर का मुझसे अर्थ है, मुझमें इति है !
मेरे कम-कम पर उड़ुगन भी धारा करते हिमकन - मोती,
जिनकी सवरंगी गोदी में सिर धर सूत्रकिरणें मोती !
में गर्वलोक की मिट्टी हूँ, मैं सूर्यलोक का एक अंश;
आती हूँ जिस धर से किरणें हैं मेरा भी तो वही वंश !

(२)

इतने में आया एक बसन्त, मिट्टी को चूसा—खिला फूल !
थल का बुलबुला फूल जैसे, हँसना समोर में भूल भूल !
जिस मिट्टी से जीवन पाया, वह उस मिट्टी को गया भूल,
थल का बुलबुला फूल जैसे, हँसना समोर में भूल भूल ?
देखा जो तारों को, सोचा—मैं भी उड़ जाऊँ बहुत दूर,
हैं यहाँ जल रत्ना नीलम के मंदिर में वह कर्पूर चूर !
निकली को देखा और कहा—‘मुझको दे दो दो चट्टल पंख’;
गौना आई तो उससे भी उड़ने को मांगे चट्टल पंख !
फिर आ निकली वन की चिड़िया तिनके चुनने, चुग्ना लेने,
‘ले चलो मुझे भी उड़ा कहीं’ था फूल लगा उगसे कहने !
चिड़िया को चोच बसन्ती थी, था फूल गुलाबी रंगगरा,
वस पल में दोखा चिड़िया के मुँह में वह डंठल हरा-हरा !
ऊपर था नीला आसमान, दाँवों नीचे सोना धरती,
थल का बुलबुला फूल दूटा, पर मिट्टी इसमें क्या करती ?
आ गिरा धरा पर फूल, मिला मिट्टी में, छिन में हुआ धूल !
जिस मिट्टी से जीवन पाया, था उस मिट्टी को गया भूल !
मिट्टी कहती—‘मैं सब कुछ सहती रहती हूँ चुपचाप पड़ी,
हिम आतप में गल और सूख पर नहीं आज तक गली सड़ी !’

इच्छा की कली

कुशल हूँ पाँवों तले क्या मधुर इच्छा की कली ?

रंगें उसकी, रक्त मेरा, कली त्रिगुणे लाल है;

कली ग्विलती, सूखती मेरे हृदय को उल है;

कौन जाने और भी परिणति घुरी हो या भली ?

कामना करना सद्ग यो तो हृदय का धर्म है,

और उसके हित भटकना इन्द्रियों का कर्म है,

पर न क्या इस कामना ने बुद्धि पहले भी छुली ?

तुच्छ है यह भावना इच्छा दिया है नाम त्रिगुको;

साधना ही श्रेय, अब तक शुभ हुआ है प्रेय किसको;

कहाँ पारस, त्रू जिसे लोहा बने काञ्चन-डली ?

अतः मन की मुरलिके, मन गान गा तू कामना का !

इष्ट है तेरे लिये—साधन बने तू साधना का !

नहीं जल में, जल अगल से द्रवित हो प्रतिभा ढली !

गीत

बाजे, बाजे मंजुल नूपुर !
गूँजा सूना मन - अन्तःपुर !
बाजे, बाजे मंजुल नूपुर !

खुला युगों से बन्द द्वार फिर,
छवि जो केवल रही स्वप्न चिर,
मंद चरण उतरी मन-मन्दिर !

जागे प्रतनु इन्दु प्रेमांकुर !
बाजे, बाजे मंजुल नूपुर !

स्मिति ज्यों जपाकुमुम की कलियाँ,
विद्युत्, चुम्बित पुलकावलियाँ !
निखिल ज्योति पे रहीं पुतलियाँ !

लहरें चरण चूमने आतुर !
बाजे, बाजे मंजुल नूपुर !

कौन आज मेरे मन रमता ?
पलक मुँदे, खोई चेतनता !
तार तार प्राणों का तनता !

मेरे रोम - रंभ्र वंशी - सुर !
बाजे, बाजे मंजुल नूपुर !

यह केवल ध्वनि नहीं श्रवन को !
मुँदे पलक, खुल रहे नयन दो !
कैसे ग्रहण करूँ इस धन को—

जर्जर भोली - सा मेरा उर !
बाजे, बाजे मंजुल नूपुर !

स्वप्न-भंग

वे श्याम बरुनियाँ
माया - जाल बिछाती हैं !

इच्छायें मन की
अश्रु - बूँद बन जाती हैं !

उन पलकों की पंखुरियों पर मैं चुम्बन बन खो जाता हूँ,
घनश्याम पुतलियों की रजनी में सपना बन सो जाता हूँ,
बस साँसें आती जाती हैं !

सपने की मेरी बातों का मत बुरा मानना, पापाणी !
हँसती हो ? हाँ, हँसती जाओ तुम देख हमारी नादानी !
पर मनुहारें सकुचाती हैं !

तोड़ो मत मेरा दिवा-स्वप्न, फेंको मत मेरा हृदय रत्न,
मत समझो उसका मोल नहीं, मिल जाय स्नेह जो बिना यत्न !
सीपी मोती भर लाती हैं !

लो, भंग हो रहा इन्द्रधनुष, छिनती जाती अंचल-छाया !
बीता रे, जो मधुवात-सदृश पल, उन अलकों में लहराया !
काली छायायें छाती हैं !

फुक रही रात, पंछी घायल, है कोई अपना नीड़ नहीं;
मन भी भर आता नहीं, मिले जो बूँद, बूँद दो नीर कहीं;
सूखे दृग-नद बरसाती हैं !

विदा-गीत

फिर भी न मुझे देना विमार !

गिर जाऊँ आँखों से यदि मैं अस्ताचलगाभी रवि-समान,
मूर्च्छित हो सान्ध्य कमल-सा जब आँसू जल का जलजात गान,
पतझर की पीली पत्ती-सी प्रतिध्वनि न साथ ले मधु वयार,

फिर भी न मुझे देना विमार !

जब अर्धरात्रि की गूँज, चाँदनी की माया, दे मुझे भुला;
तारे न दिलावे याद तुम्हें मेरी, न सुवह का फलक धुला,
मिल जायँ धूल में फूल सुत मुधि-दीपक के भर निराधार,

फिर भी न मुझे देना विमार !

जब अंतिम बार उमड़ उर में कुहरें-आ कुछ हो जायँ लीन,
भर अंतिम आँसू सूख चुकें जब—पथ में जैम आँसू दीन,
हो नया दिवस, हो जायँ निशा-सी गेरी वीरगा छिन्नतार,

फिर भी न मुझे देना विमार !

साँझ के बाद रात

बुझ-सा गया सूर्य,
साँझ की उदासी ।

शीत वायु
कहती—अब दिवस को शेष आयु ।
दिवस को शेष आयु,
साँझ की उदासी ।

दिन भर ही व्योम धिरा धिरा रहा,
अर्धा भी धिरा है जो बरा कर कड़े पार;
धिर रहा अंधकार,
धिर रहा अंधकार,
साँझ की उदासी ।

स्वप्नों से दूर,
दूर निज प्रियजन से
बद यहाँ - -

मंद मंद जलता मैं चिन्तन में ।

आते जो जो विचार
हो जाते द्वार द्वार—

जल जल कर क्षण भर को पावक के कन से ।

पंख लगा अनायास
आते फिर स्वप्न पास,
घर में धिर अपनों से बैठता प्रवासी ।

पल-छिन के सपने ये ।

अपने भी हुए दूर,
सपने थे जिनके ये ।

मिट्टी और फूल

स्वप्न-चीर तार तार,
जीवन-क्षण हुए भार,
भाँक भाँक खिड़की से
देख देख तिमिर तोम,
भाँक भाँक खिड़की से
देख घिरा घिरा व्योम,
बंद यहाँ
जलता मैं मंद मंद—आशा में—
होगी ही (कब होगी ?) दिवस की निकासी !

*

मध्यनिशा का गीत

तुम उसे उर से लगा स्वर साधती—
उठते सिसकते स्वर तुम्हारे मधुर बेला के !

भूक होती कथा मेरी,
शून्य होती व्यथा मेरी,
चीर निशि-निस्तब्धता जों
तीर-से आते सिसकते स्वर तुम्हारे मधुर बेला के !

चाँद भी पिछले पहर का
मुग्ध होजाता, टहरता !
क्या विदा-बेला न टलती
यदि कहीं आते सिसकते स्वर तुम्हारे मधुर बेला के ?

बनी रहती चाँदनी भी,
गगन की हीरक-कनी भी,
ओस बन आती अवनि पर
चाँदनी, सुनकर सिसकते स्वर तुम्हारे मधुर बेला के ?

रुद्ध प्राणों को रुलाते,
आज बाहर खींच लाते
निमिष में अंगार उर-सा
सूर्य, यदि आते सिसकते स्वर तुम्हारे मधुर बेला के ?

निर्वेद

मन ! अब विजन बन में चलो, बनफूल बन फूलो-फलो !

तुम चंद्रिका की बूँद-से सुकुमार मरकत-पत्र पर
शोभित रहो जय तक रहो, हिमहास बन तन-वृन्त पर,
अब अश्रु से मुसकान बनने, मन ! विजन बन में चलो !

हर साँस में सुख-शांति की मधुगंध हो, मधुपी न हो;
तुम स्वयं अपने मधु बनो, मधुपात्र; मधुपायी रहो !
जो मृषा उसकी क्यों तृषा ? मन ! अब विजन बन में चलो !

अब जो गले का हार है, कल खटकता बन शूल है !
कब तक समय अनुकूल है ? कल फूल, अब वह धूल है !
यह नियम है इस वाटिका का, मन ! विजन बन में चलो !

कोई न देखेगा तुम्हें, कोई चुनेगा भी नहीं,
पर दूसरे की दृष्टि से अँकती सही क्रीमत कहीं !
यदि भेद अपना जानना हो, मन ! विजन बन में चलो !

जब तक खिलो खिलना, सहज फिर विहँस कर जाना !
चलो, मत चाहो किसी का विदा देते नयन भर लाना !
बस एक बार निहार उपवन, मन ! विजन बन में चलो !

मधुकर-गीत

है फूल फूल में स्नेह-सुधा ! मत माँग—कली मुरझाएगी !
कुछ ऐसी तेरी भाग्य-रेख, मन-मधुकर तेरी चाह देख,
इस उपवन की हर एक कली, मुसकाएगी, मुरझाएगी !
है शाप कि सुन तेरा गुंजन जो मुग्धा खोलेली लोचन,
वह पंखड़ियों के पलक-पाँवड़े बिछा स्वयम् भर जाएगी !
है झूठ कि रीता है उपवन, है झूठ कि सूखा है मधुवन,
पर तू मत देख उधर—पल में पतझर की आँधी आएगी !
है फूल फूल में स्नेह-सुधा, मत माँग—कली मुरझाएगी !

साँझ की बात

साँझ आती,
साँझ की हिम-वात आती
और कहती—
'लौट चल,
घर लौट चल, पागल प्रवासी !'

कोट का कॉलर उठा मैं
बैठता कुछ और जम कर,
और थम कर
फिर वही हिम-वायु आती,
गले पर सुकुमार शीतल कर छुलाती,
चिबुक छूती,
बाँह गहती
और कहती—
'लौट चल,
घर लौट चल, पागल प्रवासी !'

मैं तुम्हारे संग चलता
वायु ! मेरे भी
तुम्हारे ही तरह जो पंख होते !
पंख होते तो तुम्हारे संग चलता—
क्यों यहाँ निरुपाय मेरे श्वास जीवन-भार ढोते !
पहुँच घर चुपचाप,
धीरे पाँव धरता—पास जाता
और पीछे से सभी को चपल सीरे कर लगाता
चिबुक छूता,
बाँह गहता
और कहता—
'लौट आया,
लौट आया घर प्रवासी !'

लुब्धक

वह नीलम के नग-सा लुब्धक, जगमगा रहा नभ में झलमल !
वह मेरी आँखों-सा छलछल, मेरे आकुल मन-सा चंचल !
किसकी सुधि दमक रही ? लुब्धक जगमगा रहा नभ में झलमल !

घनश्याम यवनिका नित्य वही, है वही शून्य नभ रंगस्थल,
है खेल वही आखेट, वही शर, वही भीत मृग—शिर केवल !
नाटक के नायक-सा लुब्धक जगमगा रहा नभ में झलमल !

वह तीन गाँठ का उसका शर, जो शर सब दिन जाता निष्फल,
ऐसा ही मनका इच्छा-शर, है लक्ष्य बनाया छायाछल !
वह नभ का आखेटी लुब्धक, जगमगा रहा नभ में झलमल !

ली दीर्घ श्वास सन्नाटे ने, जैसे वह करवट रहा बदल;
'यह मध्य निशा का प्रहर शून्य', कह काँप उठा पल भर पीपल !
आगया ठीक सिर पर लुब्धक, जगमगा रहा नभ में झलमल !

अब सिरा गई है शीत रात, डरते डरते दिन रहा निकल !
प्राची के ठिटुरे कोने में पौ फटी—खुला आरक्त पटल !
खो गया नील नग-सा लुब्धक, जगमगा रहा था जो झलमल !

खुला दिन

कल बूँदा-बाँदी से भीगी
सौंधी सुगंध वाली धरती मेरे नीचे,
ऊपर सुकुमार आरियों के सौ चँवर डुलाता नीम,
और मैं लेटा हूँ आँखें मीचे !

चह चह करती चिड़िया कहती—
'मुक्कको देखो, देखो मुक्कको',
मैं आँख खोल देखता उसे, कहता हँस कर—
'देखूँ नीला आकाश या कि देखूँ तुमको ?'

मैं लेटा हूँ तरु के नीचे,
छन छन कर आती धूप—धूप नीले नभ की,
मँडराती नभ में चील एक—बस एक चील,
चक्कर पर चक्कर काट रही चकराई-सी,
जो पा न थाह नीले नभ की !

हम सब के ऊपर सूर्य
रजत तारों से बाँधे है जग को,
मैं भी बन्दी,
मैं सोच रहा हूँ—
यह सुनील आकाश आज यदि और कहीं
तो दिखलाए कोई मुक्कको !

कौन है ?

कौन है ? वह कौन है ?

है बसी हर साँस में जो, आस में जो,
और मन की फाँस में जो,
मधुर आकर्षणमयी, विभ्रममयी वह कौन है ?
कौन है ? वह कौन है ?

हँस रही हर फूल में जो, शूल में जो,
आँसु आँसू धूल में जो,
अश्रु और मुसकान के उपमान-सी वह कौन है ?
कौन है ? वह कौन है ?

मुग्ध नयनों की मनी जो; छवि-कनी जो,
मधुरतम प्रतिमा बनी जो,
मोह-माया से बनी वह कनक-काया कौन है ?
कौन है ? वह कौन है ?

अर्घ्य कंपित अश्रुजल में; उर-अनल में
धूप—प्रस्तुत चरणतल में;
जल-अनल से पूजती है प्रीति जिसको, कौन है ?
कौन है ? वह कौन है ?

जो बनी विश्वास मन में, दीप्ति तन में;
बन दुसह सन्देह क्षण में
जो लगाती आग, वह अनुरागवाली कौन है ?
कौन है ? वह कौन है ?

प्रेम बिन विश्वास रोता, धैर्य खोता,
बैठ मन आँसू पिरोता;

मिट्टी और फूल

कामना आशारहित; संकेत करती कौन है ?

कौन है ? वह कौन है ?

पलक मुँदते, ज्योति बुझती; साँस रुकती,

किन्तु फिर विद्युत् चमकती;

शून्य नभ-सा विधुर उर लीलामयी वह कौन है ?

कौन है ? वह कौन है ?

चाँदनी

आज इतनी दूर हो क्यों, चाँदनी ?

रूप से भरपूर हो पर क्रूर हो क्यों, चाँदनी ?

वह तुम्हारा देश शशि, वह है न क्या रवि का मुकुर ही !
शशि-सदृश आतुर, मुकुर जग का न क्या कविसुलभ उर भी !
सुलगता शीतल अनल से, शून्य के शशि-सा विधुर भी !
इसलिये आओ हृदय में, दूर हो क्यों, चाँदनी !
रूप से भरपूर हो पर क्रूर हो क्यों, चाँदनी !

मैं नहीं शशि, दूर है शशि, व्यर्थ मन को शशि बताता !
कहाँ मैं वंचित सुधा से, कहाँ वह शशि—घर सुधा का !
धरा पर पड़ते न उसके पाँव—शशि ? मैं भूलता था !
तुम धरा पर उतर कर भी दूर हो क्यों, चाँदनी !
रूप से भरपूर हो, पर क्रूर हो क्यों, चाँदनी !

सुधा मुझसे दूर है, हे चाँदनी, पर मन मधुर है;
शशि नहीं हूँ, किन्तु फिर भी हृदय मेरा भी मुकुर है,
मुकुर भी ऐसा कि अतिशय चूर्ण—यह कविसुलभ उर है !
भाँक देखो रूप रंजित, दूर हो क्यों, चाँदनी !
रूप से भरपूर हो, पर क्रूर हो क्यों, चाँदनी !

तुम महीने में कभी दिन चार को आती, न सब दिन;
रहीं रातों दूर औ रीते रहे मेरे तृपित छिन,
मैं यहाँ बेबस खड़ा इन सीखचों को हूँ रहा गिन !
पास तो आओ, बताओ दूर हो क्यों, चाँदनी !
रूप से भरपूर हो पर क्रूर हो क्यों, चाँदनी !

चाँदनी ! सुन लो तुम्हीं सी है हमारी चाँदनी भी !
दूर भी है, सुन्दरी भी, क्रूर है वह चाँदनी भी !
तुम हृदय में पैठ पाओ तो दिखाऊँ चाँदनी भी !
पास है वह दूर से भी, दूर हो क्यों, चाँदनी !
रूप से भरपूर हो पर क्रूर हो क्यों, चाँदनी !

इन्दु से

मेरे हृदय !

रख दिया नभ शून्य में किसने तुम्हें,
मेरे हृदय !

इन्दु कहलाते,
सुधा से विश्व नहलाते,
पर न पहचाना तुम्हें जग ने अभी,
मेरे हृदय !

कौन ज्वाला है,
हृदय में जिसे पाला है ?
कौन विष पीकर सुधा-सीकर किया,
मेरे हृदय !

जलोगे कब तक ?
कहा क्या ? स्नेह है जब तक !
रात कितनी और ह—ओचा कभी,
मेरे हृदय !

बहुत कुछ भोगा,
कभी तो अन्त भी होगा !
बान प्राण; उसाँस - मृग वाहन बने,
मेरे हृदय !

रख दिया नभ शून्य में किसने तुम्हें,
मेरे हृदय !

उजाली रातें

फिर आ गइं उजाली रातें क्यों मेरा मन हरने ?
खिला व्योम, मुसकाई धरती, मिट्टी लगी निखरने !

दूध-धुला आकाश दीखता, लिपी फेन से धरती,
सुधर चाँदनी लिपे-पुते में पाँव न धरती, डरती;
अचक-पचक यों धर धीरे पग, सुधि भी लगी उतरने !

सब सब के घर सुधा बरसती मौन मुग्ध जग निर्भर,
सुधावृष्टि में खड़े भीजने चुप्पी साधे तरुण;
झरने लगे झुकी डालों से झीने झीने झरने !

नहीं असुन्दर जग में कोई, देखा कोना-कोना !
मोहित दृग शशि खींच ले गया कैसा जादू-टोना !
पाँखें खोल मुग्ध पलकों की आँखें लगीं विचरने !

चन्द्रमल्लिका के फूलों - से दीखे गोरे बादल,
आँखें उलझ गईं उनही से, अलि ज्यों देख कमलदल;
नीलम की नभ-सरसी में रे लहरें लगीं लहरने !

यह रसभरी शर्वरी, देखो इसकी भरी अवानी !
कहती मुझसे—क्यों न बन सके स्वस्थचित्त सब प्राणी ?
पौष शेष, निशि खिली पुष्प-सी माघ मास को वरने !

यदि न बन सकी सब दुनिया ऐसी—सब दिन को सुन्दर,
मरते जी न उठे, तो निष्फल झरे सुधा के निर्झर !
आई वृथा चाँदनी फिर मेरे मन में घर करने !

स्वप्न की बात

‘कठिन शीत है,
ठिर न गए हों कहीं तुम्हारे कोमल कर,
कोमल पाँवों के पोर,
(ले अपने उत्सुक हाथों में)
आओ इन्हें तनिक गरमा दूँ, आओ भी इस ओर !
छू लेने दो ठंडी ठंडी नोक नाक की
औ कानों की लोर—
आओ ना इस ओर !’

तुम मुँह फेर खड़े थे—देखो मैंने तुम्हें बुलाया,
इतने में खुल गई आँख, सपना आँखों का जाने कहाँ समाया !

है इनका स्वभाव ही ऐसा—
मिट्टी के प्यालों-से सपने टूट-फूट जाते हैं,
जान बूझकर आँखों में क्यों आँसू फिर भी भर आते हैं ?

शून्य निशा है, मैं एकाकी;
आओ मेरे पलक पोछ दो,
प्रिय ! अपने सुकुमार करो मैं ले साड़ी का छोर !
बड़े बड़े करुणार्द्र दृश्यों से देखो ना इस ओर !

पल भर को

यदि कहीं तुम्हारे अलकजाल में छिप सकता मैं पल भर को,
हलकी कस्तूरी की सुगंध!—लेता उसाँस जो पल भर को,
देता विसार सब दोष-रोष मैं अपने और परायों के,
मैं नयन मूँद अलकानगरी के स्वप्न देखता पल भर को!

मेरे मानस-पट खोल सहज, पग धर विभावरी स्वप्नसात्,
आती उन अधगीली अलकों के मेघलोक से सद्यस्नात!
ओ मेरी मोह-महामाया! ओ श्यामल अलकों की छाया!
तुम चित्र-लिखित-सी ऐसी हो, हो जैसे तारोंभरी रात?

वह खुली सुकोमल अलक! और वह मेरे शिथिल पलक पागल!
प्रेयसि! पल में कर्पूर-सदृश ज्योतिर होता सुरभित काजल!
क्या उस संज्ञाहत अंधकार में होगा अमृत प्रकाश नहीं?
तुम आओ, बैठो केश खोल, अलकें फैला, मैं हूँ निश्चल!

तुम से

नादान, तुम्हारे नयनों ने चूमा है मुझको कई बार !
कर लिए बंद क्यों आज, कहो, मानस के दो घनश्याम द्वार ?
सोचा होगा तुमने शायद उन आँखों में मैं घर कर लूँ,
मैं पीकर उनकी श्याम ज्योति अपने उर का अभाव भर लूँ,
इसलिए कदाचित् हो न सके तुम इस याचक के प्रति उदार !
तुम मेरी चाह नहीं समझे, तुम मेरी थाह नहीं समझे,
याचक कुछ देने आया था, तुम उसको, आह, नहीं समझे !
ओ फूलों से हलके ! तुमको बन गया प्रेम इसलिये भार !
तुमने तो भुला दिया मुझको, पर मैं तुमको कैसे भूलूँ ?
जो मेरी होतीं वह आँखें तुम कहते—मैं कैसे भूलूँ !
मैं बहुत भुलाने की कहता, पर हार गया मैं बार बार !
निर्वासित तो कर दिया मुझे अपनी सम्मोहन चितवन से,
क्या इतना भी अवकाश नहीं दो गीत सुनो मुझ निर्धन के ?
गुन गाते हँसनी आँखों के मेरे प्राणों के तार तार !
नादान, तुम्हारे नयनों ने चूमा है मुझको कई बार !

आशीष

चूमूँ भाल तुम्हारा !
रानी, चूमूँ भाल तुम्हारा,

हो आशीष-विचुम्बित मस्तक पर अंकित शुचि उशना तारक,
रहे सुहाग-भाग से दीपित उज्ज्वल वह तारक युग युग तक !
संचित सब शुभ आकांक्षायें अर्चन करें तुम्हारा !

तुम पर, ओ मेरे मन-भावन बार बार बलि जायें लोचन;
आधि-व्याधि अपने पर ले लूँ, दृष्टि-दोष को बनूँ आवरण !
बने पराग राग उर का, हो सुखप्रद पंथ तुम्हारा !

हाँ, वैसे तो निपट अकिञ्चन, पर मेरा भी प्रेमी का मन !
मन-सिंहासन पर जब तक तुम, निर्धन कैसे कहूँ, हृदय-धन !
क्यों, मेरी सम्राज्ञि ! लाज से आनत माथ तुम्हारा !

है विक्षिप्त तरंगित सागर—उर में कैसे भाव दिये भर !
और मथो तुम, ओ पापाणी, निकले एक और मणि सुन्दर !
मानिनि ! ऐसी चुम्बन-मणि से हो अभिषेक तुम्हारा !

रानी, चूमूँ भाल तुम्हारा !

गाँव की धरती

चमकीले पीले रंगों में अब डूब रही होगी धरती,
खेतों खेतों फूली होगी सरसों, हँसती होगी धरती !
पंचमी आज, ढलते जाड़ों की इस ढलती दोपहरी में
जंगल में नहा, ओढ़नी पीली सुखा रही होगी धरती !

इसके खेतों में खिलती हैं सींगरी, तरा, गाजर, कसूम;
किससे कम है यह, पली धूल में सोनाधूल-भरी धरती !
शहरों की बहू-बेटियाँ हैं सोने के तारों से पीली,
सोने के गहनों में पीजी, यह सरसों से पीली धरती !

सिर धरे कलेऊ की रोटी, ले कर में मट्टा की मटकी
घर से जंगल की ओर चली होगी बटिया पर पग धरती !
कर काम खेत में स्वस्थ हुई होगी तलाब में उतर, नहा,
दे न्यार बैल को, फेर हाथ, कर प्यार, बनी माता धरती !

पक रही फसल, लद रहे चना से बूँट, पड़ी है हरी मटर,
तीमन* को साग और पौहों को हरा †, भरी-पूरी धरती !
हो रही साँभ, आ रहे ढोर, हैं रँभा रहीं गायें-भैंसें;
जंगल से घर को लौट रही गोधूली बेला में धरती !

* तरकारी । † हरा चारा ।

प्रेयसी

(१)

पर सख्य नहीं है मुझे तुम्हारा आना !
हूँ मैं दूर्वादल के समान लघु कोमल,
तुम ज्यों प्रचंड मार्तण्ड लिए प्रेमानल,
स्वाभाविक बना दिया मेरा मुरझाना !
सच, सख्य नहीं है मुझे तुम्हारा आना !
पर सख्य न मुझको दूर तुम्हारा जाना !
तुम ही सोचो, मैं जीवन किससे पाती ?
याँ हरी हरी में कैसे निखरी आती ?
सीखती और मैं किस पर दर्प दिखाना ?
सच, सख्य नहीं है मुझे तुम्हारा जाना !

(२)

पर सख्य नहीं है मुझे तुम्हारा आना !
मैं हूँ छोटी सी बूँद आंस की सुंदर,
तुम जल के लोभी सूर्य, बड़ा चंचल कर—
चाहते व्यर्थ क्यों पल में मुझे मिटाना ?
सच, सख्य नहीं है मुझे तुम्हारा आना !
पर सख्य न मुझको दूर तुम्हारा जाना !
मैं, तुम्हीं कहो, किसके बल पर मुसकाती ?
किसके प्रकाश में रँग पर रँग खिलाती ?
सरकत पर हँसता क्यों मोती का दाना ?
सच, सख्य नहीं है मुझे तुम्हारा जाना !

किस विधि ?

तुमको कैसे प्यार करूँ ?

मरो विफल तपस्या, किस विधि श्रीपद अंगीकार करूँ ?

इस खंडित तप वाले को भी छू लेने दी तुमने छाया;
सुनो, क्षितिज के स्वर्ण, बहुत है बस इतनी भी ममता-माया !

छाँह न छीनो, पास न खींचो, बिनती बारम्बार करूँ !

लो मेरा दुर्भाग्य ! और क्या दूँगा मैं शाश्वत हतभागी ?

बदले में वरदान माँगता देखो तो यह मन अनुरागी ?

मैं इस पागल अपनेपन पर फिर न कभी अधिकार करूँ !

भूल भटक कितने बीहड़ पथ पार किये तब पहुँचा तुम तक,
आशा पर विश्वास किया था मैं निराश तब पहुँचा तुम तक,

मैं हताश आशा छलना का फिर फिर जयजयकार करूँ !

चाहे कुछ मत दो, पर मत दो मेरा वह खोया अपनापन !

मत दो वह पीछे छूटे जो मरु मरघट खँडहर निर्जन वन !

दो इतना अधिकर कि मैं अभ्यागत कुछ सत्कार करूँ !

सुनो, तुम्हारे श्रीपदतल-नत कोई भी मस्तक गौरवमय;

तुम मेरे न हो सके, फिर भी आज तुम्हारे बल पर निर्भय

मैं जीवन-पथ पर बढ़ता, शत बाधाएँ स्वीकार करूँ !

स्नेह-दीप

छोड़ आया जो दीपक बार—

बुझ गया होगा वह नादान, छोड़ आया जो दीपक बार !
ज्योति की कनक प्रभा ने नयन लिए होंगे अब तक तो मूँद,
स्नेह परिमित था, तुमने और न डाली होगी उसमें बूँद,
झरे होंगे जो सुधि के फूल, हुए होंगे जल बुझ कर चार !
जले औ बुझे बहुत से दीप, न क्या हम ज्योति-तमस-आवास ?
किन्तु मेरे दीपक के साथ बुझे मेरे आशा - विश्वास !
बहुत चाहा था जीवन भार न हो, हो जाय न जग निस्सार !
बहुत कहने सुनने पर और बाद बाक़ी है इतनी बात,
कभी जब हो कठोर आघात नहीं रहती कहने को बात !
मिट्टा दोगी ही जो अवशेष धुँएँ के धब्बे हों दो चार !

देवली कैम्प जेल में

एक हमारी भी दुनिया है,
घिरी कँटोले तारों से जो घिरी हुई दीवारों से !
इन तारों के, दीवारों के पार चाँद-सूरज उगते हैं,
ऊपर दिन के हंस रात के मानस के मोती चुगते हैं !
हम भी दूर दूर दुनिया से उन सूने नभ-तारों-से !
हम दीवारों के भीतर हैं, मन के भीतर हैं मनुहारें,
पर पलकों की ओट नहीं होने देती काली दीवारें,
मन मारे मनुहार पड़ी हैं बँधी कँटीले तारों से !
यहाँ कँटीले तार खिंचे हैं जिनके पार रँगीले बादल !
साँझ-सुबह के बादल दिखते जैसे खिले डाल पर पाटल !
पूछो, लाल रंग कैसा है, बिंधी हुई मनुहारों से !
बुलबुल गीत यहाँ भी गाती, कभी सुबह पीलो उड़ आती,
नील चँदोवे में रजनी भी रत्नों के नक्षत्र सजाती,
हँसते रोते, सोते जगते, हम भी घिर दीवारों से !
बाहर करवट लेती दुनिया, बदल रहा जग बिना बताए,
कौन जीवितों की समाधि पर फूल गिराए, ओस चुआए ?
सजते नहीं नए घर, प्यारे, उजड़े बन्दनवारों से !
युग-परिवर्तन के इस युग में बैठे कर्तव्यों से वंचित,
दुनिया के मुँहदेखा, बाक्री केवल बीते की सुधि संचित,
दूर समय की धारा बहती छूटे हुए कगारों से !

देवली कैम्प जेल में

पर जो दूर गरजता सागर हम भी उसकी एक लहर हैं,
उस विशाल के कण हैं हम भी, महाकाल के एक प्रहर हैं !
गति को कब तक बाँध सकेंगे, पूछो पहरदारों से !
संसृति के अगाध अंबुधि में लहर, लहर पर लुब्ध फेनकण;
मलकेंगे हम मिटते मिटते प्रलय-लास में क्या न एक क्षण !
हाथ उठा कर होड़ लगाएँ, लहरों की ललकारों से !
वह्नि-वृष्टि की चिनगारी हम, दब कर बीज बनेंगे ऐसा,
जिसके दल होंगे लपटों से, और फूल होगा शोले-सा;
कुट-पिट कर कुछ निखरेंगे ही हम नित नए प्रहारों से !

बैरेक से

यहाँ कँटीले तार और फिर खिंचीं चार दीवार,
मरकत के गुम्बद-से लगते हरे पेड़ उस पार !

‘हाँ—ना’ कहते नीम, हिलार्तीं शीश डालियाँ,
इमली पहने जैसे मीनी - बिनी जालियाँ !
पीपल के चौड़े पत्ते दिखते ज्यों हिलते हाथ,
दूर दूर तक धूप हँस रही, वह भी हँसते साथ !
हाथ हिलाते, पास बुलाते, शीश हुलाते मौन,
कहते—देखें पास हमारे पहले आवे कौन ?

यहाँ कटीले तार और फिर खिंचीं चार दीवार,
मरकत के गुम्बद-से लगते हरे पेड़ उस पार !

एक रात

गंगा की धारा-से लगते दूर दूर तक बादल,
नीलम के तट, स्निग्ध दूधिया लहरों का वक्षस्थल !
गोदी में तिर रहा इन्दु सिर धरे इन्द्रधनु-मंडल,
मेरे मन-सी चपल वायु भी पल दो पल को निश्चल !

पलकों से श्राँखें कहती हैं—देखो मुँद मत जाना,
सदा नहीं रहती यह दुनिया इतनी कोमल उज्ज्वल !

छायाछल की रात

आज रात को पहले-पहल नीम महका है,
मैं छाया में खड़ा हुआ हूँ आँखें मीचे!
कहता हूँ मैं—आज रात कितनी सुंदर है,
कभी देख लेता हूँ जब पाँवों में नीचे!

देख रहा हूँ छायाछल, मैं सोच रहा हूँ,
कौन अल्पना काढ़ रही है विस्मित भू पर ?
मौन मुग्ध में देख रहा हूँ तम के भीतर—
नाच रही हैं किसकी चटुल अँगुलियाँ ऊपर !

बहती मंद समीर, अधीर हृदय में सुधि-सी,
दिलती भू पर तरु-पत्रों की छाया चञ्चल,
सुन पद-चाप किसी की जैसे फूल-बेल-बूटों
की सारी में कँप कँप उठता वदस्थल !

छाया-छल की रात ! कदो तुम कहाँ छिपी हो ?
कहाँ छिपाए है तुमको तरु सौरभशाली ?
पहन मंजरी-मुकुट पूछता तुमको ऋतुपति—
कहाँ छिपी हो, अलके सुरभित अलकों वाली ?

दूर दूर तक अंधकार है, दूर दूर तक
गंध नीम की फैल रही है आज चतुर्दिक !
'आया मधुर वसन्त, विधुर वनवासी, जागो',
कह कह कर यों क्या न उठेगी कुटुक कुटुक पिक !

पंचमी आज

हिल रही नीम की डाल मंदगति, कहती रे—
बह रही लजीली सीरी धीरी पुरवय्या !
पंचमी आज, है आसमान में चपलप्राण चंदा,
जैसे जा रही दूर चाँदी की लघु चमचम नय्या !

तुम मुझसे कितनी दूर आज, आ रहा ध्यान—
मिलने को उड़ उड़ जाने की कह रहे प्राण !
जा रहा लिए मधुगंध नीम की गंधवाह,
पर भूल गया मुझसा ही वह भी कठिन राह !

आया अग जग ऋतुराज आज, तुम दूर आज !
हीरे बिखराती रात आज, तुम दूर आज !
हो दूर आज, तुम मुझसे कितनी दूर आज !
फीके लगते सब साज आज, तुम दूर आज !

हिल रही नीम की डाल मंदगति, कहती रे—
बह रही लजीली सीरी धीरी पुरवय्या !
पंचमी आज, है आसमान में चपलप्राण चंदा
जैसे जा रही दूर चाँदी की लघु चमचम नय्या !

क्या वहाँ न मन के रोग-शोक, दुख-रोग-शोक ?
है बहुत दूर नक्षत्र-लोक, नक्षत्र-लोक !
क्या वहाँ न सब दिन विरह-मिलन आलिंगन भर
रहते जैसे छाया-प्रकाश या अश्रुहास-से जीवन भर ?

मिट्टी और फूल

है बहुत दूर नक्षत्र-लोक, नक्षत्र-लोक !
क्या वहाँ सभी जन वीतराग, स्थिरचित्त, अशोक ?
कैसे जानँ, कैसे मानूँ मैं नक्षत्रों की छिपी बात,
पर अग जग आज उजागर तारोंभरी रात !

पंचमी आज, है आसमान में चपलप्राण चंदा,
जैसे जा रही दूर चाँदी की लघु चमचम नय्या !
हिल रही नीम की डाल मंदगति, कहती रे—
बह रही लजीली सीरी धीरी पुरवय्या !

रात

ओ जगमगाती रात !

इस अपरिमित मौन में (मधुमर्म के) ओ गान गाती रात !

ओ जगमगाती रात !

बताओ किस भेद से गंभीर हो तुम !

क्या सदा से ही अविचलित धीर हो तुम ?

आँसुओं की ओस कैसे छिपाती हो ?

यह मुझे भी बताओ, ओ तारकों में मुसकुराती रात !

ओ जगमगाती रात !

वाट किसकी जोहती हो, असितवसना ?

मुसकान मन की कौन है, हे कुंददशना ?

कौन उनमें आँख का तारा तुम्हारा ?

बताओ, ओ पायलों की गूँज वाली स्तब्ध आधी रात !

ओ जगमगाती रात !

विवश हो दो हृदय क्योंकर पास आते ?

एक हो दो हृदय क्यों फिर बिछुड़ जाते ?

क्या न वह फिर पास आते ? सच बताओ,

ओ वियोगी हृदय के सुनसान में नगरी बसाती रात !

ओ जगमगाती रात !

मेरे गान !

विकल मेरे गान !

ठहर पल भर, धीर धर, ओ विकल मेरे गान !

आज तू मत खोल उर के द्वार,
आज भीतर बंद है विद्विग्न हाहाकार,
थम ज़रा, मेरे हृदय में थमे हैं तूफ़ान !

ग्रंथि तू मत खोल उर की आज,
बँधी है अभिशप की गंभीर गर्जन गाज,
गिरेगी वह; और जिस पर रोप, वह नादान !

पास मत आ आज, मेरे कीर !
उठ रही हैं लाल लपटें आज सीना चीर !
धधकते अरमान मेरे, सुलगते हैं प्राण !

कंठ कुंठित, हृदय है पाषाण,
आँख में आँसू न, चुभते अग्नि के-से वाण,
मृत्यु मुझसे दूर, पर क्यों प्रलय का सामान !

एक मुट्ठी हड्डियाँ हैं भार,
एक दिन ये फूल होंगी, अग्नि होगी क्षार;
और बिखरे पड़े होंगे कुछ दुखद आख्यान !

विकल मेरे गान !

निर्वासित

दूर हूँ, परदेस में हूँ; गूँज मत, ओ देश के स्वर !

उमड़ मैदानी नदी-सी वह चलेगी पीर,
बहुत चौड़ा पाट, वह धारा बड़ी गंभीर,
फट गया है हृदय, है दो टूक ज्यों दो तीर—
कैसे समाएगी भला, सब बाँध मेरे हुए जर्जर !

गूँज मत, ओ देश के स्वर !

व्यर्थ आएगी मुझे तब याद पहली बात,
बहुत गहरा पहुँचता स्वर का मृदुल आघात !
वह चलेंगे नसों में विन्नित तड़ित-प्रपात,
सुनसान मेरा देश यह मरुदेश है, है दूर सागर !

गूँज मत, ओ देश के स्वर !

जल चुका है स्नेह मेरा, बुझ गया है दीप,
गल गया विश्वास का मोती, पड़ी है सीप !
बहुत काले साँप मेरा पथ गए हैं लीप !
हूँ राख का सा ढेर मैं, है भस्म सब सुकुमार अंतर !

गूँज मत, ओ देश के स्वर !

पंचमी का चाँद

आज चाँदी की कटारी की तरह
दीखता है पंचमी का चाँद यह !
देख इसको कट सकेगी रात कुछ,
और भी—कट जायगा कुछ तो विरह !

विरह ? किसका विरह ? तेरा कौन है ?
कौन है, कुछ तो बता, मन, कौन है ?
विरह उसको, मिलन जिसको इष्ट हो,
पर बता किस ध्यान में तू मौन है !

देख बादल—लगा रेवड़ खड़ीं भेड़ !
देख कैसे मौन साधे खड़े पेड़ !
देख तारे भी खिले दो चार जो,
उड़ वहाँ तू कल्पना को लगा एड़ !

हृदय मेरे ! विरह की मत बात कर,
खूब खुश हो और हँस इस बात पर !
हम सितारों के इशारों पर चले,
आ, हँसें अब चाँद-तारे देख कर !

भाग्य निश्चित हो चुका तेरा, हृदय !
हँस; न कर इन तारकों से आज भय !
हम धरा पर पाँव अड़ा खड़े रहें
और मन को हो गगन लीला-निलय !

यहाँ की बरसात

(१)

गरज रहे धिर मेघ साँवले, नाच रही गोरी बिजली;
बरस रही होंगी ऐसी ही बूँदें घर-घर, गली-गली !
दीवारों से लगे खड़े होंगे चुप छान और छप्पर,
झरती होगी खामोशी से औलाती भी किन-मिन कर !
चौड़ी छाती खोल असाढ़ी पड़ी पी रही होगी आल !
शरमा कर हामी भरती-सी होगी भुकी नीम की डाल !
बरस रहीं बूँदें रिम-भिम कर, तरस रहीं प्यासी आँखें,
मन मारे मन-पंछी बैठा है समेट भीगी पाँखें !
बहुत दूर वह जहाँ भमीरी ताँबे की उड़ती फिरती,
भरी पोखरों में भैंसों की जहाँ पलटनें फट पड़तीं !
वह बरसाती शाम रँगीली, खेतों की सौधी धरती !
ऊँची ऊँची घास लहरती, बंजर में गायेँ चरतीं,
बूँदा-बाँदी से दुखयातीं, खड़े रोंगटे, नीला रँग,
पूँछ उठा भर रहीं चौकड़ी, सुते छरहरे चंचल अँग !
एक हुए होंगे जल-जंगल, पर मैं उनसे कितनी दूर !
डोल रहे होंगे पटविजना जलता जैसे चूर कपूर !
मोद भरे पीले फूलों से खिल बकावली मेड़ों पर—
बैठी होगी; जामुन अँधियाँ लदीं रौस के पेड़ों पर !
कौंध रही बिजली रह रह कर चुँधिया जाती है आँखें,
मन मारे मन-पंछी बैठा है समेट भीगी पाँखें !

मिट्टी और फूल

(२)

वह बरसाती रात शहर की ! वह चौड़ी सड़कें गीली !
बिजली की रोशनी बिखरती थी जिन पर सोनापीली !
दूर मुनाई देती थी वह सरपट टापों की पट पट,
कभी रात के सूनेपन में नर्तियों बूंदों की आहट !
आती जाती रेलगाड़ियाँ भी तो एक गीत गातीं !
कहीं किसी की आशा जाती, कहीं किसी की निधि आती !
पार्क सिनेमा सभी कहीं ये बूँदें बरस रही होंगी,
किसे ज्ञात—मेरी आँखें अब किसको खोज रही होंगी !
घर न कर सका कभी किसी के मन में मैं जो अभिशापित;
सोच रहा हूँ, अपने घर से भी अब मैं क्यों निर्वासित !
यही महीना, गए साल जब बरसा था जमकर पानी;
रातों रात द्वार पर कामिनि फूल उठी थी मनमानी !
तीव्र गंध थी भरी हृदय में, सहज खुल गई थी आँखें !
आज यहाँ मन मारे बैठा मन-पंछी, भोगी पाँखें !
छोड़ समंदर की लहरों की नीलम की शीतल शय्या,
आती थी वह बंगाले से जंगल जंगल पुरवय्या !
झीनी बूँदोंवीनी धानी साड़ी पहने थी बरसात,
गरज तरज कर चलती थी वह मेघों की मदमत्त बरात !
झर लगता था और वहीं पर बूँदें नाचा करती थीं,
बाजे-से बजते पतनाले, सड़क लबालब भरती थीं !
कुरता चिपका जाता तन पर, धोती करती मनमानी,
छप छप करते थे जूते जब, बहता था सिर से पानी !
भरी भरन उतरी सिर पर से, कहाँ साइकिल चलती थी !
घर के द्वारे कीच-काँद थी, चप्पल चपल फिसलती थी !

यहाँ की बरसात

प्यारी थी वह हँस घमस भी, खूब पसीने बहते थे !
अब आई पुरवय्या, आया पानी, कहते रहते थे !
बरसे राम बवे दुनिया—यो चिल्ला उठते थे लड़के,
रेला आया, बादल गरजे, कड़क कड़क बिजली तड़पे !
(कितनी प्यारी थीं बरसातें—हरे-हरे दिन, नीली रातें !
रंग रँगीली साँझ मुहानी, धुली-धुलाई सुन्दर प्रातें !)
आई है बरसात यहाँ भी—आज ऊभना, कल भर था !
होते यो दिन-रात यहाँ, पर अंतर धरती-अम्बर का !
यहाँ नहीं अमराई प्यारी, यहाँ नहीं काली जामुन,
है सूखी बरसात यहाँ की मोर उदासा गर्जन सुन !
इन तारों के पार कहीं उड़ जाने को कहतीं आँखें,
पर मन मारे बैठा मेरा मन - पंछी, भीगी पाँखें !

हवा में नीम

मौन था मैं, आह भर भर कर कराहे रात भर तुम;
नीम ! मेरे भाव हैं वह, दे रहे हो तुम जिन्हें स्वर ?
भकभोर जाती मुझे भी, जब जो अधीर भकभोर आती;
बिंधे उर की मुरलिका के सुप्त रंघों को फलाती;
बँधे बंदी ! सुनो तुममें और मुझमें कहाँ अंतर ?
तारकों की छाँह में मैं भी किसी को भाँकता हूँ,
शून्य में मैं भी किसी के लिए बाँह पसारता हूँ !
देखता हूँ क्या न मैं भी नित्य अगम अथाह अंबर !
जब समय आता, सखे, मधुमास-पतभर तुम्हें आते;
किन्तु क्या वह हृदय का विश्वास भी सब फूँक जाते ?
मूल मेरी ही नहीं, मैं रहूँ जिस पर सदा निर्भर !

वासन्ती

मैं गीत लिखूँ, तुम गाओ !

मेरे बौरे रसालवन-से मन में कोयल बन जाओ !

जो दबी दबी इच्छाएँ थीं, उमड़ी हैं वन पल्लव-लाली,
भावों से भरे हृदय-सी ही काँपी-थिरकी डाली डाली !

स्वर देकर मौन मूक मुझको, मन में संगीत बसाओ !

मंजरित आम्र की मधुर गंध में उठी भूमती अभिलापा,
पल्लव के कोमल रंगों में है भूल रही मेरी आशा;

क्या क्या मेरे मन-कानन में तुम गा गा कर बतलाओ !

मेरे रोमां से गीत खिलें, किरणें फूटें जैसे रवि से,
रसभरे पके अँगूरों - से हों मधुर शब्द मेरे कवि के,

जीवन का खारा जल मधु हो, जब तुम अधरो पर लाओ !

पतझर-वसन्त, पतझर-वसन्त—इस क्रम का होगा कहीं अन्त ?
हैं इने - गिने जीवन के दिन, है जग-जीवन का क्रम अनन्त !

अनगाए रह जाएँगे गाने, आओ, मिल कर गाओ !

सुबह

डूब रहे नभ के तारे, भर रहे जुही के फूल जैसे !
धौले घन हो रहे केसरी पिंगल पल्लव - डाल जैसे;
भरा स्वर्णचम्पा से निर्मल नभ का नीलम थाल जैसे;
आसमान सब सोना - सोना, धरती सोनाधूल जैसे !
पौ फटती, अरुणी - अम्बर का होता दूर दुराव जैसे !
विंध इच्छा - शर से शरमाती प्राची लाल गुलाव जैसे !
लाल किरण ज्वालाशर ऐसी, बादल-जलती तूल जैसे !
जहाँ पीत पुखराज सोहता, बिखरी माणिकमाल जैसे;
अर्धउदित रवि माणिक-कुंडल, मुकुलित अरुण मृणाल जैसे;
अरुणोदय के बादल दिखते हिलता दूर दुकूल जैसे !
तारे छिपते, सूक डूबता, थका अकेला चाँद जैसे;
देख, फेर फीका मुख, जाता दीवारो को फाँद जैसे;
रात और दिन भी हम-तुम-से सरिता के दो कूल जैसे !
एक और दिन आया, प्यारे ! यह जीवन दिनमान जैसे !
हुई सुबह—पीलो उड़ आई मेरे पुलकित प्राण जैसे !
खिंचे कँटीले तार सामने, चुभते सौ सौ शूल जैसे !

पावस को साँझ

संध्या पावस की !

रंगों की बौछार कर रही संध्या पावस की !

दूर दीखता रंगमहल वह, जिसके फ़ीरोज़े के छुज्जे;
सोने की दीवारें जिसकी, महारात्री मानिक दरवज्जे;
जाते जाते उभक गई रे संध्या पावस की !

इन्द्रनील के आसमान में दिखते रंग - बिरंगे बादल,
कहीं इन्द्रधनु के सत रंगों से भर जाता शून्य दिगंचल,
यह धनुषई चीर लहराती संध्या पावस की !

कहीं बैंगनी, जामानी, तो कहीं कत्थई, कहीं सुरमई,
लाल-सुनहले सौ रंगों से आसमान को शाम भर गई;
इन रंगों में डुबो गई मन संध्या पावस की !

मेरे प्राण परिन्दों से ही डूब डूब जाते रंगों में,
संध्या के सौ रंग, सौ तरह भर जाते मेरे अंगों में;
आज गगन-मन में बसती रे संध्या पावस की !

भक्तिभीत

दी मैंने उसको भक्ति और वह काँप गई !
जब दिया अमित विश्वास, थकी - सी हाँफ गई ?

क्या भार-बहन के श्रम से ?—ना ।

मन में यह भय, सच्चा भय था—

मैं क्षुद्रपात्र, खिलवाड़ बनूँगी अब कैसे औरों को ?—
खिलवाड़ बनूँगी उच्छृङ्खल, रस के लोभो भौरों की ?

मैं गया पास विनयानत, वह हट दूर गई !
सर्वस्व दिया, तो कहा—‘नहीं यह रीति नई !’

एकाकी

इस धूप-छाँह की दुनिया में मन, सदा अकेले ही घूमो !
घूमो चाहे जंगल जंगल, चाहे उड़ तारों को चूमो !
धरती के चारों खूँट तुम्हारे हैं, चाहे जिस ओर चलो;
चारों सिमते अपनी ही हैं, तुम चाहे जो रस्ता पकड़ो !
वस एक बात लो गाँठ बाँध जिससे न कभी फिर हाथ मलो;
वह याद रही तो छुट्टी है, फिर चाहे जो रस्ता पकड़ो !
तुम भूल न जाना—दुनिया में है सदा अकेले ही रहना,
एकाकीपन को सह न सको, फिर भी एकाकी ही रहना !
यह तुम्हें नसीहत है मेरी, जिससे न कभी फिर हाथ मलो,
यह याद रहे तो छुट्टी है फिर चाहे भी जिस ओर चलो !
तुम दर्पन में भी कभी भूल खोजना नहीं जीवन-साथी !
मन, वह भी साथ नहीं देती, जो स्वयम् तुम्हारी छाया थी !
यह याद रहे तो छुट्टी है फिर चाहे भी जिस ओर चलो !
चारों सिमते अपनी ही हैं, तुम चाहो जो रस्ता पकड़ो !
घूमो चाहे जंगल जंगल, चाहे उड़ तारों को चूमो;
पर धूप-छाँह की दुनिया में मन, सदा अकेले ही घूमो !
थक गए अगर अपनी उड़ान से अपने पास बिठाऊँगा,
मैं बड़े लाड़ से, बड़े प्यार से गा गा गीत सुनाऊँगा !
थक गए अगर अपनी उड़ान से, अपने पास लिटाऊँगा,
लोरी गा गा, दुलरा-दबोर, मैं मीठी नींद सुलाऊँगा !
थक गये अगर, मैं तुम्हें प्यार से आँखों में बिठलाऊँगा,
पलकों की ओट न होने दूँगा, सुन्दर स्वप्न दिखाऊँगा !

मिट्टी और फूल

जब नींद ले चुकोगे, तुमको धीरे से चूम जगाऊँगा;
गा गीत सुनहले, तुम्हें उजैला सुन्दर देश दिखाऊँगा !
मैं बोलूँगा बतलाऊँगा; चाहोगे, चुप हो जाऊँगा;
तुम जब उदास हो जाओगे, मैं हँसकर गले लगाऊँगा !
ओ सोनचिरय्या-से मेरे ! ओ सोनजुही-से मन मेरे !
बस भूल न जाना इतना ही तुम मेरे हो—केवल मेरे !
जाओ, पर नेह लगाना मत; जाओ, पर मोह जोड़ना मत;
यह मैंने जो आदेश दिया, मन मेरे, उसे तोड़ना मत !
घरती के चारों खूँट तुम्हारे हैं, चाहे जिस ओर चलो !
चारों सिम्नें अपनी ही हैं, तुम चाहे जो रस्ता पकड़ो !
घूमो चाहे जंगल जंगल, चाहे उड़ तारों को चूमो !
पर धूप-छाँह की दुनिया में, मन, सदा अकेले ही घूमो !

अकेलेपन

आ गले से लगा लूँ, मेरे अकेलेपन !
ढल गया दिन, शेष होगा एक दिन जीवन !

यह सुनहली साँझ, लोहे के कँटीले तार,
खो गई मेरे हृदय की सुनहली झंकार !
सूर्य-से इस डूबते दिल में नहीं अब प्यार !

वहाँ नभ में खिल रहा मंदार का कानन !
आ गले से लगा लूँ, मेरे अकेलेपन !

दूर सोने के कँगूरों से उतरती रात,
रेशमी सुरमई साड़ी में ढँके मृदु गात,
सजीली है—सूक की बेंदी दिए अवदात !

दिप रहा है कनकचम्पक चाँद-सा आनन !
आ गले से लगा लूँ, मेरे अकेलेपन !

देखते आकाश बीती आज आधी रात,
व्यर्थ है जो आय अब भी याद भूली बात,
सह चुका हूँ बहुत से आघात पर आघात,

अभी कुछ-कुछ रुका-सा था हृदय का रोदन !
आ गले से लगा लूँ, मेरे अकेलेपन !

दिन मुँदे ही सो गए थे पेड़ के सौ पात,
पड़ गया सोता यहाँ भी—बढ़ रही है रात,
छिपा नौ का अंक जो लिखते सितारे सात !

जागते बस दो जने—मैं और मेरा मन !
आ गले से लगा लूँ, मेरे अकेलेपन !

क्या गाऊँ ?

गाऊँ भी तो क्या गाऊँ ?
मैं रो गा कर अब कब तक मन बहलाऊँ ?

यह लाइलाज रोगी मन है,
यह लुद्र पात्र-सा जीवन है,
क्या मैं मानव में इनमें सिमट समाऊँ ?

इस क्षीण रुधिर की धारा का
क्या बह सकना ही ध्येय बने ?
धाराओं का गंगासागर—संगम-
समाज या—गेय बने ?
बन लुद्र रहूँ या मैं विशाल बन जाऊँ ?

बुन बुन उधेड़ता रहूँ सदा
इस धूप-छाँह की जाली को !
क्या ओठों पर लाऊँ हर दम
सब सब की जूठी प्याली को !
जाग्रत जीवित हो जिऊँ या कि मर जाऊँ ?

है एक ओर इच्छाओं का
वासनाजनित छायान्धकार,
और दूर दूसरी ओर दीखता
संयम का अवरुद्ध द्वार !
मैं श्रेय प्रेय में से किसको अपनाऊँ ?

युवक क्लार्क

साँझ हो गई, घर को आया दिन भर का ऊबा-ऊबा,
एक उबासी ले, करवट ली, सुख-सपनों में जा डूबा !

आसमान का नील चँरोवा ऊपर, नीचे हरियाली ।
पास कहीं बहता जल, ऊपर लदी फूल-फल से डाली !

चाँद-सितारों की रातें हों, बीतें धूप-छाँह के दिन,
वहाँ न बीतें रात सितारे और दिवस घड़ियाँ, गिन गिन !

गीत सुनूँ कोयल-बुलबुल के, प्रीति करूँ तो जंगल से !
मन बहलाऊँ पेड़ों नीचे देख खेल छाया-छल के !

हो मानुस की गंध न वन में, हों न यहाँ के दुःख-फलेस;
है इतनी-सी चाह हमारी कहाँ मिलेगा पर वह देश ?

जिन जिन को मैं भूल चुका हूँ, मुझे याद आएँ न कभी;
जिसने मुझको भुला दिया हो, उसे भुला दूँ यहीं, अभी !

ऐसा देश दिखाओ, जिसमें हो न मोह-फाँसी-फंदा;
दिल ऐसा खुरा खुरा हो जैसे पूरनमासी का चंदा !

रोटी की खातिर बनना हो नहीं किसी का मुझे गुलाम,
ताँबे के मैले टुकड़ों पर हो न काम से कोई काम !

है इतनी-सी चाह हमारी पूरी कर, मेरे ईश्वर !
एकाकी हूँ, मेहनतकश हूँ, और किराए का है घर !

साँझ हो गई, घर में बैठा दिन भर का ऊबा-ऊबा,
एक जँभाई ले, अँगड़ा कर सुख-सपनों में जा डूबा !

गतिरुद्ध

आज मैं गतिरुद्ध हूँ !

मिला सीमाहीन अंतर, खिंचीं सौ मरजाद बाहर !
कठघरे में बंद, कोड़ों से पिटा है हृदय-नाहर !
पर्वतों से मथे फेनिल सिन्धु-सा विन्नुब्ध हूँ !

धँस रहा हूँ रसातल में, फँसा बाड़व की भँवर में,
और आहत अहं, अहि-सा पैटता गहरे विवर में !
कठिन धन्वा से छुटा टूटा प्रखर शर क्रुद्ध हूँ !

मानसर का सलिल सूखा, पंक-सा उर भी गया फट,
कल्पना श्यामा सलोनी खोजती अन्यत्र पनघट !
अंक-घट का ठीकरा मैं, दलित और अशुद्ध हूँ !

स्वप्न मिटते—मिट रहा मैं, किन्तु क्या नाचीज़ हूँ मैं ?
मिला मिट्टी में, गला जो, नए भव को बीज हूँ मैं !
दैन्य में मैं विभव हूँ, मैं बुद्धिजीव अबुद्ध हूँ !

नुबध

लक्ष्य-भ्रष्ट तीरों से खाली जो, ऐसा तूणीर,
मूठ रही वस कर में जिसकी, मैं ऐसी शमशीर !
कहने को भी नहीं रहा कुछ—मेरी ऐसी पीर,
सूख चला जल जिसका, मैं ऐसी नदिया गंभीर !

छोटी छोटी इच्छाएँ दे जातीं मुझको त्रास,
दूर सत्य का देश—स्वप्न-वन में मेरा अधिवास !
नहीं आज आश्चर्य—हुआ क्यों जीवन मुझे प्रवास,
अहंकार की गाँठ रही मुझ पंसारी के पास !
नीलम के गुम्बद को तड़का दें—आँखों की चाह,
व्योमविहारी मन को मिलती नहीं वहाँ भी राह !
जैसे मेरा दुख ही सब कुछ—ऐसा रहा कराह;
हुआ राख का ढेर—नहीं बुझता भीतर का दाह !

तट से टकरा, पटक पटक सिर, उठतीं लहरें नुबध,
फिर विलीन हो जातीं मन की पोखर में गतिरुद्ध !
यह दयनीय दशा मेरी—मैं अपने ही से क्रुद्ध,
ऐसा नुद्ध पात्र जो खंडित लुंठित और अशुद्ध !
निकल, कूप-मंडूक-अहं, बाहर है विश्व विशाल !
दीवारों को फोड़, तोड़ सीमाओं के जंजाल !
ओ आहत अलि, विधे हृदय से टूटे शूल निकाल !
मेरे सूने अपनेपन, आने को नया सकाल !

गुम्बद-सा अंगार उठ रहा तिमिर-गर्भ को चीर,
काटेगी तेरे तम को भी यह लोहित शमशीर !
बेध रहे हैं देख हृदय के तम को रवि के तीर,
कवि ! खाली खाली मन तेरा हुआ भरा तूणीर !

मन से

अब पत्थर बन जा, मन मेरे !—
जिससे तुझको घन और हथौड़ा ही तोड़े !
खन खन का लगना, जी दुखना छूटे,
तू भी अपना रोना-धोना छोड़े !

क्या बने काच का पैमाना—
जिसको कोई भी चाहे जब तोड़े-फोड़े !
बन जा कठोर—जिससे न कभी
फिर तू कठोर इस दुनिया से, मन, मुँह मोड़े !

जब वक्त आयगा, दुःख जायगा—
भरने दे इनको, फूटेंगे ये तेरे दुखते फोड़े !
तू खाक फाँक दिल ताज़ा कर
ज्यों लोट रेत में हो ताज़ा उठते घोड़े !

अपने से

तोड़ फेंक पतवार रे !

अपना नहीं कहीं कोई, अपनी जीवन-मम्धार रे !

लहरें तेरी बाँह गहेंगी, सब दिन तेरे संग रहेंगी,
मिला बोल से बोल बहे तू, ये लहरें जिस ओर बहेंगी;
हाथ उठा कर साथ, गगन के स्वामी को ललकार रे !

निगल गईं पच्छिम में रवि को नागिन-सी यह साथिन तेरी,
उगल रहीं फुफ्फुकार मार कर भर भादों की रैन अँधेरी;
छिटक गए हैं म्हाग, दीखते जो तारे दो चार रे !

देखा तट तटनी का मिलना; रोना क्या जो साथ छूटता ?
देख कगारों का भी गिरना; रोना क्या जो हृदय टूटता ?
सह प्रहार, पर गिर कगार-सा कर मत हाहाकार रे !

उसका सोच-फिकर करना क्या, अपने बस की बात नहीं जो !
एक आस ही पास रही, ये ले जाएँगी बहा कहीं तो !
बहने में भी सुविधा होगी, नहीं कहीं आधार रे !

तुम्हको कहीं पड़ी पल भर कल; चाहा बहुत बुद्धि ने छलना !
तू अपना भी भला न कर सका; व्यर्थ हुआ बच बच कर चलना !
अब तो प्रलय-पूर में चाहे जितने पाँव पसार रे !

तोड़ फेंक पतवार रे !

बनफूल

कहीं सरिता के किनारे खिला था बनफूल एक,
अचक उसके पास आई लहर ज्यों भावातिरेक !
वायु डोली, लहर उभरी, फूल झूला, मिले आँठ,
फूल झूला चेत, लहरी गई कर मधुराभिपेक !

बहुत-सी आईं गईं लहरें, न आई वही एक—
ले गई जो फूल की मुसकान, अंतर का विवेक !
उलहना देता रहा बनफूल—‘तुम आईं नहीं !’
गीत गाता रहा, देती रही मंथर वायु टेक !

नदी बहती, समय जाता, आस भी जाती रही,
विवश हो बनफूल ने यह बात सरिता से कही,
‘ले चलो मुझको, जहाँ वह लहर टहरी बाट में !’
चाँद निकला, हँसी सरिता, निरुत्तर बहती गई !

फिर वहाँ आई चटुल चिड़िया बनी से, वारि देख,
तीर पर बैठी, सिमट ज्यों गई नभ की स्वर्ण-रेख !
फूल को देखा, सुनहली चोंच में ले कर कहा,
‘पिया जल दो चोंच, सरि, जो—दे रही हूँ मोल देख !’

फूल धारा में रहा बह, कह रहा है बार बार—
‘वह लहर किस महल बसती ? कब खुलेंगे बंद द्वार ?’
सूर्य चढ़ आया, नदी हँसती रही ज्यों दिवास्वप्न,
फूल बहता रहा, कहता रहा—‘बोलो, क्षिप्र धार !’

एक दिन बोली नदी—‘मैं तो समय की धार हूँ,
मैं विरह का अश्रु हूँ, मधुमिलन-लोचन चार हूँ,
लहर मेरा अंश, ओ बनफूल ! मत यह भेद भूल—
छू गया संकेत जिसका, मैं वही मङ्गधार हूँ !’

कहीं सरिता के किनारे खिला था बनफूल एक,
अचक उसके पास आई लहर ज्यों भावातिरेक !
वायु डोली, लहर उभरी, फूल झूला, मिले ओठ,
फूल झूला चेत, लहरी गई कर मधुराभिप्रेक !

पहाड़ की याद

वह सुराभित शीतल छाया !
फिर याद आ गई पर्वत पर के देवदारु की छाया !

भीनी थी गंध लाल चन्दन की जैसी,
थीं विछीं पत्तियाँ भी चन्दनचूरे सी,
हाँ, मेरी थकी देह जैसा ही मंद मरुत अलसाया !

वे खेत धान के, सोयी पर्वत - घाटी,
लेटी थी हरी - भरी टिंग पर्वत - पाटी,
ज्यों जीवन की दोपहरी में सो रही कामना-काया !

उस हरी दुपहरी में लेटा था थक कर,
मैं पूछ रहा था मन से इसका उत्तर,
मधुकर ! क्या मधु कुछ कागज़ के फूलों में पाया ?

तब याद आरही थीं कितनी ही बातें,
आँसू से खारे दिन औ' मीठी रातें,
वह भी, जो पहले कभी किसी को नहीं बताया !

मेरा यह लुद्र हृदय, वह विशद हिमालय !
सोचा अनन्त उस सुन्दरता में हो लय,
(जाने किसने ?) यह अश्रु-रास का जीवन खूब बनाया !

मैं देवदारु के देवालय में सोया,
उस दिन वर्षों का दुख लघु क्षण में खोया,
ममता के कच्चे धागे में बँध, फिर जीवन अपनाया !

सानन्द गा रही थी पर्वत-पिक तरु पर
पर्वत पर से आते उत्तर प्रत्युत्तर,
भू-मुग्ध हुआ मैं, पर्वत ने जीवन-संगीत सुनाया !

देखी फिर कत्यूरी उपत्यका सुन्दर,
जीवन-मरु में आ लेटे सौ सौ निर्भर,
फिर वीते पर सीधा सादा मैदानी मन शरमाया !

मेरे साथी

औरों से तो अच्छे ही हैं;

पर उतने अच्छे नहीं, आह, (जितने अच्छे मैं समझे था) मेरे साथी !
छाँटो तुम कितना ही चुन चुन, हैं सब में बहुतेरे औगुन !

पर क्या यह दोषी स्वार्थ नहीं
जो भाता मुझे यथार्थ नहीं ?

जीवन की सच्ची भूख नहीं, दिखता मुझको दाने में धुन !
काहिल को चुभते हैं गद्दे, सौ बार रुई लो चाहे धुन !

या मेरा आहत अहंकार,
खिन्निया जाता जो बार बार,

जब अपने निष्फल सपनों को आखिर उधेड़ता हूँ धुन धुन ?
छाँटो तुम कितना ही चुन चुन, हैं सब में बहुतेरे औगुन !

हाँ, ये उतने अच्छे न सही, जितने अच्छे मैं समझे था;
औरों से—हाँ, अच्छे-अच्छों से—अच्छे हैं मेरे साथी !

आज

आज मरी मिट्टी के कन भी जाग रहे वन चिनगारी,
मैंने ही क्यों आज नियति के सन्मुख यों हिम्मत हारी ?

दूर अग्नि की शिखा लपकती लिखती-सी कुछ नभ-पट पर,
नवयुग आया, और चाहता मैं जाना पथ से हट कर !
मेरे मन की कमज़ोरी यह, मेरे मन की लाचारी !

इतना ओछा हूँ मैं—छिन में कर लेता हूँ मन छोटा !
ओखा हूँ मैं—और नहीं तो कहता क्यों जग को खोटा ?
आह न जुबिश खाने देती मेरे मन की बीमारी !

बुझा हुआ दीपक ले कर मैं, फिरता हूँ बाहर-भीतर,
अंधकार में पा न सका कुछ, देग्व फिरा धरती-अंबर !
क्या जाने यह कभी कटेगी भी मेरी निशि अधियारी ?

जिसके आगे शीश झुकाया, उसने मुझे सदा टुकराया;
मुझ तक जा शरणागत आया, उसे न मैंने ही अपनाया;
मुझे तौलना कभी न आया, बना प्रेम का व्यापारी !

पाने की आशा में मैंने अपनी भी सब निधि खोई;
अहंकार में पोषित मेरी बुद्धि ठगे शिशु-सी रोई,
पग पग पर ठोकर खाती जब मनोकामना बेचारी !

किन्तु जब कि जलता हो अम्बर, दहक रही हो जब धरती,
यह छोटी सी जान बड़ी वन क्यों अहरह आहें भरती ?
आज अग्नि के अंकमिलन की कर न सकूँ क्यों तैयारी ?

नृत्य-निरत लपटों के पहने ताज, जल रहीं मीनारें;
ढहते दुर्ग, तड़कते गुम्बद, भूमि चूमती दीवारें !
छोटे मुँह हो बड़ी बात, जो कहूँ—‘आज मेरी बारी !’

नवयुग का संकेत—लपट को नभ में हाथ हिलाने दो !
शस्यश्यामला वसुंधरा को चोट लपट की खाने दो !
तप कर ही सच्चे निकलेंगे हम जैसे भी संसारी !

जीवन को तो आज अग्नि की लपटों का ही गहना है,
मिटने में ही बनना है अब, सहना है सो लहना है,
सृजनतत्व वन कर निकलेगा तत्व आज का संहारी !
मैंने ही क्यों आज नियति के सन्मुख यों हिम्मत हारी ?

युग और मैं

उजड़ रही अनगिनत बस्तियाँ, मन, मेरी ही बस्ती क्या !
धन्वों से मिट रहे देश जब, तो मेरी ही हस्ती क्या !

बरस रहे अंगार गगन से, धरती लपटें उगल रही,
निगल रही जब मौत सभी को, अपनी ही क्या जाय कही ?
दुनिया भर की दुखद कथा है, मेरी ही क्या कसूर कथा !

जाने कब तक घाव भरेंगे इस घायल मानवता के ?
जाने कब तक सच्चे होंगे सपने सब की समता के ?
सब दुनिया पर व्यथा पड़ी है, मेरी ही क्या बड़ी व्यथा !

छूट रहे हैं पुंछल तारे, होते रहते उल्कापात,
इस्पाती नभ पर लिखते जो जग के बुरे भाग्य की बात !
जहाँ सब कहीं बरवादी हो, वहाँ हमारी शादी क्या !

रीतबदल है त्योहारों में, घर फुकते दीवाली से,
फाग खून की, है गुलाल भी लाल लहू की लाली से !
दुनिया भर में खूनखराबी, आँख लहू रोई तो क्या ?

आग और लोहे को जिसने किया और रक्खा बस में,
सब जीवों के ऊपर वह मनु आज स्वयं उनके बस में !
आज धराशायी है मानव, गिरा नज़र से मैं—तो क्या !

बदल रहे सब नियम-क़ायदे, देखें दुनिया कब बदले !
मानव ने नवयुग माँगा है अपने लोहू के बदले ।
बदले का वर्त्ताब न बदला, तुम बदले तो रोना क्या !

रक्त-स्वेद से सींच मनुज जो नई बेल था रहा उगा,
बड़े जतन वह बेल बढ़ी थी, लाल सितारा फूल लगा,
उस अंकुर पर घात लगी तो मेरे आघातों का क्या !

खोल रहे हैं सात समंदर, डूबी जाती है दुनिया;
ज्ञान थाह लेता था जिससे, गर्क हो रही वह गुनिया !
डूब रही हो सब दुनिया जब, मुझे डुबाता गम—तो क्या !

हाथ बने किस लिए ? करेंगे भू पर मनुज स्वर्ग निर्माण !
बुद्धि हुई किस लिए ? कि डाले मानव जग-जड़ता में प्राण !
आज हुआ सबका उलटा रख, मेरा उलटा पासा क्या !

मानव को ईश्वर बनना था, निखिल सृष्टि वश में लानी;
काम अधूरा छोड़, कर रहा आत्मघात मानव ज्ञानी !
सब भूटे हों गए निशाने, तुम मुझसे छूटे—तो क्या !

एक दूसरे का अभिभव कर, रचने एक नए भव को,
है संघर्षनिरत मानव अब, फूँक जगतगत वैभव को;
तहस-नहस हो रहा विश्व, तो मेरा अपना आपा क्या !

युग-परिवर्तन के इस युग का मूल्य चुकाना ही होगा,
उसका सच ईमान नहीं है, आज न जिसने दुख भोगा !
दुनिया की मधुवनी सूखती, मन, मेरी गुलदस्ती क्या !

ओ मेरी मनवसी कामना ! अब मत रो, चुपकी हो जा !
ओ फूलों से सजी वासना ! कुश के आसन पर सो जा !
टूट-फूट दुनिया कराहती, मेरे सुख-सपने ही क्या !
उजड़ रहीं अनगिनत बस्तियाँ, मन, मेरी ही बस्ती क्या !

हिरना-हिरनी

एक था हिरना, एक थी हिरनी !

हिरना था वह प्रेमी पागल,
फिरता था नित जंगल जंगल;
बतलाऊँ हिरनी कैसी थी ?
बड़ी खिलाड़िन नटखट चंचल !
दूर दूर फिरती रहती थी,
जैसे फिरती फिरे फिरकनी !
एक था हिरना, एक थी हिरनी !

देखी धरती—सूखी गीली,
ऊँची नीची औ पथरीली,
(छाँह न तिनके की)—रेतीली !
देखे हरे-भरे वन-पर्वत,
देखीं म्नीलें नीली नीली !

साँझ-सुबह देखीं बनी-ठनी,
देखी सुंदर रात चाँदनी,
अधियारे में हीर की कनी !
देखा दिन का जलता भाला,
और रात—चंदन कीं टहनी !

देखे कहीं कूजते मोर
(प्रेमी को प्यारा वह शोर !)
नाच रहे सुख से निशि-भोर,
नाच नाच कर पास बुलाते
मेघ रहे अग-जग को बोर !

आई गई और फिर आई,
हिरनी फिर भी हाथ न आई,
हिरने को चकफेरी आई !
मिली न वह सोने की हिरनी,
देशदुनी की खाक छनाई !

आया एक सामने दलदल,
फँसी जहाँ जा हिरनी चंचल
दुख से, प्यारी आँखें छलछल !
हिरना प्यारा, दुख का मारा,
दूर पड़ा था गिर मुँह के बल !

थे हिरना के व्याकुल प्राण,
जैसे चुमें व्याध के वाण !
हिरनी कहती— सुनो सुजान !
दूर दूर भागी फिरती थी
तुमको अपना हिरना जान !

वन में आया शेर शिकारी,
भूख बुझाने का अधिकारी,
कहता था—अब मेरी बारी !
देख हिरन-हिरनी की जोड़ी
हँसी क्रूर आँखें हत्यारी !

देख शेर के मन में आया,
मैंने इनको खूब मिलाया;
बहुत मृगी ने खेल खिलाया,
(जिए दूर, मिला गए मौत में)
हिरने ने हिरनी को पाया !

एक था हिरना, एक थी हिरनी,
हिरना था वह प्रेमी पागल,

मिठी और फूल

फिरता था नित जंगल जंगल,
बतलाऊँ हिरनी कैसी थी ?
बड़ी खिलाड़िन नटखट चंचल !
दूर दूर फिरती रहती थी,
जैसे फिरती फिरे फिरकनी !
एक था हिरना एक थी हिरनी !

छायाछल

तट कहता तटनी से—‘देखो तनिक ठहर जाओ जो पल भर,
एक बार बस तुम्हें प्यार से लूँ अपने आलिङ्गन में भर !

पर तट जितना उसे घेरता, गति उतनी ही तीव्र नदी की,
पग पग पर रोका, आखिर वह छिपी जलधि में और न दीखी !

यही हाल मेरा भी, चाहा—सुख को लूँ मैं चूम एक पल,
पर सुख मुझको छोड़ अकेला कह जाता—‘मैं तो छायाछल !’

चुनौती

हाँ, कस कस कर कर प्रहार, मैं हँस हँस बारम्बार सँहूँ !

बने सरल-जितना ही चाहा, उतना ही उलझा यह जीवन !
चाहा जितना ही समझाऊँ, उतना ही भरमाया है मन !
तू मनचाही करे, नियति, तो मैं अपबीती बात कहूँ !

छाया-छवि ने मोह बढ़ाया, प्रेमी को अपनाना चाहा;
पर जब मैंने हाथ बढ़ाया छवि ने, हाथ, छीन ली छाया !
अस्थि - कुलिश से जो कठोर, उस सत् की अब मैं बाँह गहूँ !

जल पर किरणनृत्य-से अस्थिर दिवास्वप्न से नाता तोड़ा,
व्योम-यवनिका फाड़ फेंक दी, अचिर कल्पना सेमुँह मोड़ा !
नींव हिला, तू भित्ति तोड़ दे, खँडहर हूँ मैं, सहज ढहूँ !

अन्तर्द्वन्द्व, द्वन्द्व बाहर भी, पर इसके बिन शान्ति कहाँ अब ?
दे जो मुझे शक्ति ठुकरा कर, होगी मेरी भक्ति वहाँ अब !
मैं जो जीवन का अभिलाषी, नित अक्षतविश्वास रहूँ !

नव आभास

(१)

चीर कारा की सघन प्राचीर, किरन आई—ज्योति का ज्यों तीर !
चीर कारा की बधिर प्राचीर, ध्वनि सुनाई दी—बजे मंजीर !

किरण - शर ने बेष डाली तिमिर की प्राचीर,
नाद गूँजा है हृदय में अर्थगुण - गंभीर !

(२)

दृगों ने देखा तिमिर के पार—मैं स्वयम् ढोता रहा निज भार !
युगल कर्णों में हुई संकार—सहा मैंने स्वयम् अत्याचार !

ये प्रयोजन मात्र, जिनको समझ कर आधार,
नाच नाचा किया छायावत् विवश लाचार !

(३)

और भी दीखा प्रकाश विशेष, और भी कुछ सुना था संदेश !
दिखाऊँगा ज्योति का वह देश, बताऊँगा कथा जो अवशेष !

तोड़ उर - कारा, मलिन निज फेंकता हूँ बेश !
किरण ज्यों हिम-विन्दु—मैं निज सोख लूँगा क्लेश !

आज रात

जैसे यह तारोंभरी रात, मैं वैसा ही आपुलक गात !
मैं जाने क्यों यों पुलकाकुल ! खिल रहे भाव विभ्रम-संकुल !
लद गया मुकुल के भार बकुल, आती अनजानी चारवात !
होने को कारा मुक्तद्वार, करने को मन - पंछी विहार,
हिल रहा गगन में विजयहार, आने को नव मधु का प्रभात !
तम की आहुति देकर प्रकाश, पाया दे आँसूजल सुहास,
जीवन न मृत्यु का बना आस—यह नहीं, अरे मन, तुच्छ बात !
था जाने किसका छिपा हाथ ? है जाने मेरे कौन पास ?
कोई भी स्नेही नहीं साथ, पर कितना खुश हूँ आज रात !
है बीज वृक्ष में कौन सत्य ? कह पुष्प सत्य ? क्या फल असत्य ?
यह सब अनित्य, पर क्या न सत्य ? जीवन की यह सत्ता न स्यात् !
वह था, है भी, होगा निश्चय, जीवन की सत्ता हुई न क्षय !
मैं क्यों न सत्य को वरूँ अभय, चाहे पथ रोकें ! सिन्धु सात !
ढह गईं बहुत-सी आस्थाएँ, बदली हैं बहुत अवस्थाएँ,
अब ढाल गईं तू संस्थाएँ, जिनमें जागे नव अप्रज्ञात !

निदान

नहीं पनपते आज कल्पना के कोमल अंकुर !
शब्द वही, पर अर्थ नहीं वह; बदली परिभाषा !
आर्त्तनाद करती अभिलाषा, मूक बनी आशा;
तारकचुम्बी सौध-धाम स्वप्नों के क्षणभंगुर !

प्रस्तर थे वाचाल—नहीं अब मुरली में भी सुर !
सड़ा अचल जल और पड़ी मृतप्राय पवनश्वासा,
इन्दु डालता डोर, नहीं लहराती अभिलाषा;
नहीं बेधती दृष्टि भविष्यत्, यद्यपि मिलनातुर !

कवि ! बोलो, क्यों हुआ आज यह परिवर्तन असमय ?
तारों-भरी वही रातें, क्यों खाली खाली मन !
बैठा काला साँप अमंगल, आसन बना हृदय—
क्यों अहि से अंधे बालक-सा खेल रहा यौवन ?
जीवन की ज्योत्स्ना पर क्यों श्यामल निशान छाया ?
वस्तुसत्य को छोड़, चूँकि सपनों को अपनाया !

द्वादशी का इन्दु

अमिय के मणिपात्र-सा यह द्वादशी का इन्दु,
क्या न हिय में ढाल देगा अमिय के दो बिन्दु ?
शून्य है मेरा हृदय भी, शून्य ज्यों आकाश,
क्या न मन नभ-सा बनेगा, चाँदनी का सिन्धु !

क्यों न जाने शून्य उर में विकल फिर उच्छ्वास !—
व्योम में ज्यों डोलता यह फाल्गुनी वातास !
अमिय के मणिपात्र-सा है द्वादशी का चाँद,
रिक्त है मधुपात्र-सा उर शून्य ज्यों आकाश !

पूर्णता की और उन्मुख शुक्लपाखी चाँद,
क्षिप्रपाँखी हृदय ने भी तोड़ डाला बाँध !
शयित बाधा-बाँध पदतल, विन्ध्य ज्यों नतशीश,
और मैं भी बढ़ चला गिरि और गह्वर फाँद !

पूर्णा भी हो जायगा यह हृदय—खंडित पात्र,
अमृत-दीपक-से खिलेंगे प्राण-मन औ' गात्र !

मनुज पुष्प

टुकुर टुकुर नभ में निहारते तारों से ही पूछो तुम,
अखिल भुवन के उपवन में है सर्वोत्तम वह कौन कुसुम ?
मानव उसका नाम, फूल वह खिला प्राण की डालों पर,
सुरभित सुरँग पँखुरियाँ जिसकी हैं मानवप्राणी हम तुम !

किन्तु क्रोड़ में पुष्पश्रेष्ठ के बसा एक लघु कृमि भी है,
जिसने कई बार फुलवारी की फुलवारी डस ली है !
पर यह ऐसा फूल कि फिर फिर धूलि निगल जी उठता है,
सब भूतों ने महामहिम मानव को वह प्रतिभा दी है !

उस प्रतिभा का नाम चेतना, वही सुरभि इस चम्पक की !
सुरभि सिन्धुवत्, किन्तु बुद्धि कणिकावत् अणुवत् सम्यक् भी ।
दल पर दल खुलते प्रसून के कहीं सुरभि का अन्त नहीं—
किन्तु एक दिन बुद्धि गहेगी सुरभि-चेतना तह तक की !

पूर्ण मनुज जब जीत प्रकृति, आगे को पाँव बढ़ाएगा,
कैसे कह दूँ स्वल्पज्ञान—किस मंजिल तक वह जाएगा ?

संकल्प

अग्नि का कर आचमन संकल्प कर, मानव,
तर अनल के सिन्धु भी बढ़ता चलेगा तू !
तू नहीं वह चीज़ जो जल खाक हो जाए,
नित्य निखरेगा, मनुज, जितना ! जलेगा तू !

मिस्र चीन सुमेरु बाबुल, बुलबुले तेरे;
सभ्यता के स्रोत, मनु ! कैसे रुकेगा तू ?
भुका तेरे सामने था बूद्ध विन्ध्याचल,
विघ्न-वाधा देख अब कैसे भुकेगा तू ?

बहुत-सी मंज़िल हुई हैं पार, देखे
बहुत-से बटमार, फिर उनसे लड़ेगा तू !
चेतना हो मूर्त तुझमें सँवरने आई,
क्या न मिट्टी से कनक-प्रतिमा घड़ेगा तू ?

यहाँ कौन अयुद्ध है ? कटिबद्ध हो, मानव !
अब मनुज ही देव तेरा, मनुज ही दानव !

संकट-काल

जितने वज्र धँसें, उतना ही वज्र सुदृढ़ सुविशाल बने !
अधिकाधिक सोहै, जो शोणित-श्रमसीकर से भाल सने !
वह भी कैसा मनुज, न उलझाले जो भंभा केशों में,
सह प्रहार फिर मेरुदंड जिसका न और से और तने ?

तेजपुंज की जिह्वाओं-सी लपटें देशों-देशों में
घोषित करतीं, आए जो भी चाहे जल इन क्लेशों में
सजल स्वर्ण बन जाय, काल इतिहास लिखे जिससे अक्षर !
अब न रहेगा मानव बँट कर, छिप कर भापा-वेशों में !

अपलक आज समय—सदियाँ शत मौन साध तकतीं निर्भर,
टकराते इस्पाती तट दो—मानवता वह जाय किधर !
सृति में भी गति—भय है उलटी बहे न गगा की धारा,
रोक प्रगतिरथ भागीरथि का, रूप न जायँ पथ में पत्थर !

रोप रहे पथ में पत्थरि जो, बना रहे तुमको कारा—
बनो आज तूफान कि बाधा-बाँध फाँद चल दे धारा !

साँझ का संदेश

नतमस्तक हो सूर्य रोकता राह, और ऊँचा चढ़ तू !
तिमिराञ्चल में छिपा थका पथ, किन्तु और आगे बढ़ तू !
एकाकी है तू, पर कैसा एकाकी मानवप्राणी ?
तेरे उर-कम्पन में स्पंदित सदियाँ जानी-अनजानी !

एक बूँद शोणित की तेरे—चिनगारी उस ज्वाला की,
जिस ज्वाला से दीपित मनु की जाति, विपुल मणिमाला सी !
देश-राष्ट्र, भाषाएँ जिनकी अनगिनती तरु-पातों सी,
हुए एक तेरे तन-मन में—और न सागर सातों भी
विलग उन्हें कर सकते तुझसे—फिर तू कैसा एकाकी ?
इससे वंचित कर न सकेगा तुझे भाग्य का लेखा भी !

निरुद्देश्य बहती बयार, पर तुझको उसकी होड़ नहीं !
बँधे पाँव ये खड़े पेड़, पर तेरा उनका जोड़ नहीं !

श्रुति दिन की, विद्युत् खग-पाँखों की खोई, आगे बढ़ तू !
उतरे चाँद-सितारे जल में, पर ऊँचा-ऊँचा चढ़ तू !

मनु के सपूत

जिस दिन, मनु, तुमने कहा—पालतू पशु-सा रहना इष्ट नहीं, तुम छोड़ अदन-उद्यान बसाने निकले अपनी सृष्टि कहीं, उस आदिम युग से आज तक यों तो अनगिनती कष्ट सहे— पर आँखों के सन्मुख देखा था ऐसा घोर अनिष्ट नहीं !

आदिम युग में भी वसुन्धरा का हुआ कभी था जल-प्लावन, पर वसुन्धरा कंदुक थी तब, देवों के हित क्रीड़ा-साधन ! उस आदिम युग से आज तक बीती हैं सदियों पर सदियाँ, जब आज मनुज ने बना लिया नवयुग का सिंहद्वार पावन !

नवयुग का सिंहद्वार पावन ! जिसके भीतर नव साम्यस्वर्ग ! नव साम्यवर्ग ! जिसमें खोए, हो गए एक, शत मनुज-वर्ग ! वह सिंहद्वार, जिसके भीतर है सजा आज ऐसा समाज, कल्पना देखती थी सपना जिसका, जिसका सेवक निसर्ग !

मनु के सपूत ! तुम मनुज-स्वर्ग के निर्माता हो, रक्षक हो ! इस सिंहद्वार की रक्षा का रण अंतिम, रण में हार न हो !

सावन की साँझ

सान्ध्य गगन की छाया जल पर फैली हलकी हलकी,
बीते की चित्रित मुधि ज्यों मेरे मानस में झलकी !
यह पावस की साँझ, गगन नारंगी, भू हरियाली—
ऐसे में क्यों मुझे याद आयेगी बीते कल की !

लहराती है भरी झील, पर भर न आय मम अन्तर,
लघु लहरों में कहीं न फिर से जाग उठे मन पल भर !
पर क्या इस सूनेपन में तट के तरु-सा सो जाऊँ ?
एकाकीपन से डर, जड़ता को लूँ यों कैसे वर !

कैसी ओछी बात ! आज भी, मन, तू सुखदुख-कातर,
सुख-दुख की परिभाषा ही जब बदल रही घर-बाहर !
माना, संध्या के रंगों में लिखी हुई है गाथा,
पर मलीन रंगों में फिर रवि रंग भरेगा आकर !

देश-काल दिनमान, अस्तमित रवि प्रतीक वन युग का—
सूर्य कनक का मोती, जिमको समय-हंश नित चुगता !
दिनमणि डूबा, डूबे दिन-सा डूब रहा है युग भी—
मनुज बीज, जो विकसित युग युग, डूब डूब फिर उगता !

सान्ध्य गगन की छाया भी छिप गई, तारिका झलकी—
फिर वह भी छिप गई, जलद-पट में ज्यों शफरी जल की !
तिमिराच्छन्न मेघमय यम-से भीम गगन के भीतर
भावी की स्मित चितवन-सी, मुसकान-दामिनी छलकी !

वर्षा-श्री

वह बैठी भरी जवानी में वर्षा-श्री तरु की डाली में,
कैसी सुन्दर लगती लाली खपरैलों की, हरियाली में !
वह दूर दीग्वता खेत धान का, काँप रहे छवि के अंकुर,
बक शुक्लपंख ज्यों श्वेत शंख, शोभिन मरकत की थाली में !

कुछ और दूर, चमचम करती चादर चाँदी की थर थर थर,
सारस की जोड़ी डाक रही—प्रतिध्वनि-कम्पित समीर-सागर !
जीवन की गति-सी ट्रेन चली जाती, आँखें हैं निर्निमेष—
जी करता है घंटों देखूँ यह वर्षा-श्री मन भर भर कर !

किन चलचित्रों की परछाईं धरती पर अंकित होती है ?
वर्षा-श्री का यह वाग, बीज थी बूँद—मूल में सोती है !
आषाढ़ मास की बूँद मुक्त मोती-जी बरसी थी नभ से,
पर मानव की ही आँख आज निरुपाय लहू क्यों रोती है ?

तप रहा तवे-सा विश्व, बूँद लोहू की खो देती लाली;
मानव का आतपकाल, दूर है वर्षा-श्री की हरियाली !
बीतेगा आपतकाल किन्तु, शोणित की बूँद नहीं निष्फल;
मानव की वसुधा भरी-पुरी होगी ज्यों मरकत की थाली !

रात और प्रभात

अपनी छाया को देख भूँकते कुत्तों के रथ में बैठी
फिरती निशीथिनी ओर-पास,
ज्यों परिक्रमा कर रही लुप्त तम के पुर की !

क्या तिमिर तोम के दुर्ग-व्योम में
घोषित श्वानों का सुर ही ?
हैं पीछे लश्कर के शृगाल,
सिर उठा, व्योम की ओर देख
जो बजा रहे मुख से तुरही !

नासिका-रंध्र ही देख सकें जिसको,
ऐसा है धूम्र-चीर—
फैला दिगन्त में आर-पार;
सुलगा कर अवा, कदाचित् थक कर, सोये बेफिक्रे कुम्हार !

है दबे पाँव जा रहे चोर,
और क़स्बे को नीचे दबोच, चढ़ छाती पर
बैठा पहाड़—चोरों का साथी अंधकार !
सब कहीं दीखता अंधकार ही अंधकार—
छुटा छूटा भैंसा बिजार !

मैले गूदड़ के टुकड़ों-से
उड़-उड़ घन घिरते व्योम बीच,
बरसे भी शायद नहीं—गगन के गलियारे में हुई कीच !

था आसमान कुछ क्षण पहले
ज्यों उलटी इस्पाती परात,
काली बदली से धिर दिखता,

जैसे परात को भीतर से,
कालिख ले काले जूने से,
मलता कहार का सधा हाथ !

लो पलक झपीं ! फिर खुलीं आँग्व !
पौ फटी, कमल की खुलीं पाँग्व !
पारस-पथरी से लुआ —
हुआ सब सोना-सोना आसमान !

बरसे छवि के सब ओर तीर,
धन बने लहरिया कनक चीर,
सूरज की कोर लगी दिखने, हो जैसे सोने की कमान !

कालिख की कोख चीरती-सी
शमशीर—हिलोर नीर की-सी
लहराई, ललकी लपक लहक—
काञ्चन चपला-सी—छोड़ म्यान !

वह रात
और यह है प्रभात !
वह लोहे की परात जैसी,
यह सोने की थाली—प्रभात !

नवमी की चाँदनी

चाँदनी ऐसी खिली, जैसे तुम्हारा हास—
स्वस्थ सुंदर हास, वह निर्मल मनोरम हास !

जानता हूँ, तुम जहाँ भी हो वहाँ भी इन्दु
महस अनदेखे करो से रहस हँस रस-विन्दु
सहज बरसा रहा, सरसा रहा छवि के सिन्धु !

क्यों न खुश हूँ, नहीं हूँ यद्यपि तुम्हारे पाग ?
चाँदनी ऐसी खिली, जैसे तुम्हारा हास !

शशि न चिपका एक कन से, वह नहीं मतिमंद !
ग्रंथि मेरी भी खुली, उन्मुक्त जीवन-छंद,
भूल उर के शूल, मैं नभ-फूल-सा सानंद !

अब सफ़ेद गुलाब-सा उर में नया आभास !
चाँदनी ऐसी खिली, जैसे तुम्हारा हास !

द्वन्द्व के है पार जो मेरा तुम्हारा स्नेह,
क्या न ऐसा ही परस के परे यह विधु-मेह ?
प्राण-मन शीतल, सुशीतल स्वस्थ सुस्थिर देह !

सब कहीं रस बरसता, क्यों हो मुझे रस-प्यास ?
चाँदनी ऐसी खिली, जैसे तुम्हारा हास !

एक नारी के प्रति

बाहुओं के प्रतनु दो पतवार अथ मैं छोड़ता हूँ,
छोड़ता हूँ तट, तरी मङ्गधार में अथ छोड़ता हूँ !
आज मैं मुँह मोड़ता हूँ प्रेम की अलकापुरी से
केश-श्वासों की सुरभि, दृग-देश श्यामल, छोड़ता हूँ !

कामिनी की कामना ? वह कर चुका हूँ पार मंजिल,
बहुत ललचाए रही मन काञ्चना की ज्योति भिलमिल !
स्वप्न की संम्राज्ञि खोई, दिवा अब नवरूप जागी—
नया मनहर रूप निखरा आ रहा स्वर्णाभ-सा खिल !

पौ फटी, फटती यवनिका मांहाया-यामिनी की;
फटी मेरी राह, मन से हटी मूरत कामिनी की !
प्रगति-पथ पर किरण छिटकाती चली वह मुक्तहासिनि—
वह नहीं, पर्यंक, पिय की अंक की जो शायिनी थी !

तुम नहीं हो भोग की ही वस्तु मुझको, अस्तु, तुम से
भीख मधु की माँगता मन भी नहीं, अलि ज्यों कुसुम से !
चाटुकारी से रिक्ताना—हुई अबहेला तुम्हारी, सुनो नारी,
करूँ अभिनन्दन तुम्हारा मौन अब बिन कहे तुम से !

आज तक तुम फूल, तितली गीति थी—वह छोड़ता हूँ !
प्रीति, कविकृत प्रेयसी की प्रीति थी—वह छोड़ता हूँ !
विश्व मधु का कुंड था, मन तरी, ये पतवार भुज द्वय—
सुनो, नारी ! निरादर की रीति थी, वह छोड़ता हूँ !

मुक्त धारा

छोड़ मेरी हृदय-कारा, वह चली यह मुक्त धारा !
दौड़ता पीछे किनारा, वह चली यह मुक्त धारा !
मैं स्वयं पथ रोक हारा, रोक हारा लोभ सारा;
दिशायें हँस हँस बुलातीं, बुलाती नभ बीच तारा;
किन्तु पीछे छोड़ सब को, वह चली यह मुक्त धारा !
छोड़ मेरी हृदय - कारा, वह चली यह मुक्त धारा !
ध्येय अब तो और ही कुछ, गेय अब तो और ही कुछ,
मत बुलाओ पास कोई, प्रेय अब तो और ही कुछ !
अंक में भरने अबनि-नभ बढ़ी मेरी मुक्त धारा !
छोड़ मेरी हृदय - कारा, वह चली यह मुक्त धारा !
हृदय भो संकीर्ण-सा था, विश्व जर्जर जीर्ण-सा था,
दगों की खिलवाड़ वाला व्योम, अंचल शीर्ण-सा था !
दृष्टि बदली, विश्व बदला, और चल दी मुक्त धारा !
छोड़ मेरी हृदय - कारा, वह चली यह मुक्त धारा !
यह न रोके से रुकेगी, जिधर चाहेगी भुकेगी,
घाव-से भरते अभावों में न भीषण दव फुकेगी,
एक घर-बाहर करेगी, बहेगी यह मुक्त धारा !
छोड़ मेरी हृदय - कारा, वह चली यह मुक्त धारा !

